॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
?

महापरिव्राजक

स्वामी परमानन्द भारती

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

महापरिव्राजक

ISBN : ?

प्रकाशक
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2335263
URL : www.exoticindia.com
email : csp_naveen@yahoo.co.in

प्रथम संस्करण 2016
₹ ?

वितरक
चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
दूरभाष : 23286537
Email : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

•

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

•

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113, दिल्ली 110007

मुद्रक
डीलक्स ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

उत्तर यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।।

(विष्णुपुराण 2.3.1)

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारत भूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।।

(विष्णुपुराण 2.3.24)

दुर्लभं भारते जन्म पुरषस्य च वा पशोः।
विहंगस्य चवाजन्तोः वृक्षपाषाणयोरपि।।
अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने।
यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्या भोगभूमयः।।

(विष्णुपुराण 2.3.22)

अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात्।।

(विष्णुपुराण 2.3.23)

देशः पृथ्वी तस्यां हिमवत् समुद्रान्तरम् उदीच्यात्।
योजनसहस्त्रपरिमाणं तिर्यक् चक्रवर्तिक्षेत्रम्।।

(कौटिल्यः)

उपर्युक्त तथा अन्य सहस्रों वाक्य यह स्पष्टतया सिद्ध करते हैं कि उत्तर के हिमालय से लेकर दक्षिण के रामसेतु तक भारत सदा एक राष्ट्र रहा है। यहाँ के निवासी अपने राष्ट्र से कितना प्रेम करते हैं यह भी द्रष्टव्य है। परन्तु कुछ आधुनिक विद्वान् इसे स्वीकार नहीं करते। उनके विचार में यहाँ के राजा सदा आपस में लड़ते रहे हैं। इतिहास इसका साक्षी है। अतः, इसे एक राष्ट्र कैसे कहा जा सकता है? ऐसा वही लोग कह सकते हैं जो राष्ट्र और राज्य के भेद से अनभिज्ञ हैं। राज्य की सीमाओं का विस्तार करना राजा की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। शास्त्रानुसार 'असंतोषी ब्राह्मण तथा संतोषी राजा–ये दोनों ही नष्ट

हो जाते हैं–असंतुष्टो द्विजो नष्टः संतुष्टो हि महीपतिः'। चाहे विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न प्रकार के राज्य रहे हों चाहे उनमें राजाओं के बीच युद्ध चलते रहे हों, परन्तु उत्तर के हिमालय से दक्षिण के समुद्र तक भारत सदा एक राष्ट्र रहा है। वेद घोषित करते हैं:–"साम्राज्यं भोज्य स्वराज्यं वैराज्य पारमेष्ठीं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यं पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्"– साम्राज्य, भोज्य इत्यादि विभिन्न प्रकार के राज्य हैं। फिर भी यह एक राष्ट्र है। "वयं राष्ट्रे जाग्रियाम पुरोहिताः"– इस एकता की रक्षा के लिए पुरोहितों को वेदों का हितवचन यह है कि हम पुरोहितों को जागृत रहना चाहिए। सावधान रहना चाहिए। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि किस अर्थ में भारत एक राष्ट्र है? इसका उत्तर यह है कि इस देश के सभी लोगों का जीवन–उद्देश्य समान है। सभी का यह दृढ विश्वास है कि जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष ही है; और इस लक्ष्य से अविरुद्ध जीवन जीना ही उनका ध्येय है। यही कारण है कि यहाँ के वासी देशभर में स्थित अगिनत तीर्थों की यात्रा करते हैं। उनकी उत्कट इच्छा है कि वे यहाँ की सभी नदियों में स्नान करें क्योंकि इस देश की सभी नदियों में लोगों के पाप धोने का सामर्थ्य है।

इलाहाबाद का कुम्भमेला तो सभी को आकर्षित करता है। पूरे देश में इस समान जीवन–शैली को बनाए रखने में हमारे शास्त्रों–वेद, पुराण, महाभारत आदि की अहम् भूमिका रही है। यहाँ के ऋषि, मुनि तथा विभिन्न सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक आचार्य एवं अन्यान्य विद्वान् राष्ट्रीय एकता को बनाए रखने के लिए देश के एक छोर से दूसरे छोर तक की यात्रा करके लोगों को धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बांधने का महत्वपूर्ण कार्य सदा करते रहे हैं। ये महापुरुष राजाओं को राजनीति, युद्धनीति तथा धर्मनीति का अपदेश कर सुष्ठु शासनव्यवस्था स्थापित करने में सहयोग देते हैं। राजाओं की राज्याकांक्षा का सदुपयोग करते हुये देश को एक बनाये रखने के लिये एकछत्राधिपत्य–अश्वमेध यज्ञ की अवधारणा भी शास्त्रों ने की है। इस प्रकार की राष्ट्रीयता से भरपूर भक्ति आज भी देखने को मिलती है। 68 वर्ष पहले, लगभग पचीस शताब्दियों के अनवरत संघर्ष के पश्चात् देश स्वतन्त्र हुआ। तब लगभग 600 राजाओं ने स्वेच्छा से अपने राज्यों को केन्द्रिय शासन के अधीन कर दिया। ऐसा विस्मयकारी कार्य विश्व में और कहीं

दृष्टिगत नहीं होता। सरकार ने जब घोषणा की कि "भूमि जोतने वाले की ही है", तो जमींदारों ने अपनी भूमि सरकार को सौंप दी। इस प्रकार का त्याग पूरे संसार में और कहीं देखने को नहीं मिलता।

दूसरे किसी देश में ऐसी नीति लागू की जाती तो शायद खून की नदियाँ बह जातीं। इस सबसे यह स्पष्ट है कि भारत एक राष्ट्र था, एक राष्ट्र है और एक राष्ट्र रहेगा। आधुनिक विद्वान्, जो इस देश तथा धर्म के स्वरूप को जानना चाहते हैं, जब तक पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं करते तब तक वे इसे नहीं समझ सकते।

शास्त्र यह भी बताते हैं कि सम्प्रदायप्रवर्तक ऋषि-मुनियों ने जिस उत्कृष्ट व्यवस्था को आरंभ किया था वह समय बीतते-बीतते शिथिल होती जाती है। सत्युग में धर्म चारों पदों पर दृढ़ खड़ा होता है। आगामी युगों में उसके एक-एक पद का क्षय होता जाता है और अन्त में कलियुग में धर्म एक ही पैर पर खड़ा रह जाता है। कलियुग के आरंभ होते ही अर्जुन के पौत्र और अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित ने एक अत्युच्च कुलोद्भव सम्राट होते हुये भी, एक ग्रामीण, अबुद्ध व्यक्ति के समान आचरण करते हुये, ध्यानस्थ शमीक मुनि के गले में एक मृत सर्प केवल इसलिये डाल दिया क्योंकि उन्होंने उसके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया था। यदि कलियुग एक कुलीन राजा पर ऐसा प्रभाव डाल सकता है तो सामान्य जनता के विषय में क्या कहना? कलियुग मे लोगों की वेदों पर श्रद्धा कम होती जाती है और उन्हें अपनी अल्पमति पर अधिक विश्वास रहता है। वर्णाश्रम व्यवस्था, जो एक स्वस्थ समाज का आधार है, धीरे-धीरे शिथिल पड़ती जाती है। ऐसे में कुछ चतुर लोग, जो केवल प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण मानते हैं, अपने व्यक्तिगत और स्वतन्त्र विद्धान्तों का प्रतिपादन करने लगते हैं। आरंभ में ये सिद्धान्त सांख्यादियों के समान वेदों को पूरी तौर पर नहीं छोड़ते। परन्तु बाद में जैन विचारकों के समान वेदों का पूरी तरह परित्याग कर देते हैं। फिर आगे सुगत के समान वेदविरुद्ध स्वतन्त्र सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने लगते हैं।

ये वेदविरुद्ध सिद्धान्ती अपनी-अपनी श्रेष्ठता बनाये रखने के लिए अलग-अलग दल संगठित करते हैं। जिस दल में जितने अधिक सदस्य होते

हैं उतनी अधिक उसकी मान्यता मानी जाती है। अत: ये येन केन प्रकारेण अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं और इस प्रयास में छल, कपट, बल तथा हिंसा का भी प्रयोग करने से नहीं कतराते। फलत: समाज में अशान्ति छा जाती है और सामाजिक व्यवस्था भंग होती है। विगत 2500 वर्षों से भारत में यही हुआ है। पतन की गति उस समय तीव्र हुयी जब बुद्ध वेद के विरोध में खड़े हुए। हमारे मत में तो इस सारी अव्यवस्था का सूत्रपात बुद्ध से ही हुआ है। कुछ आधुनिक विद्वान् इसे बिल्कुल मानने को तैयार नहीं हैं। ये विद्वान् उन सभी तथ्यों को, जो बुद्ध को वेद-विरोधी सिद्ध करते हैं, स्वीकार नहीं करते। बुद्ध के पश्चात्, लगभग तीन शताब्दियों तक, बौद्धधर्म केवल मगध प्रदेश तक ही सीमित रहा। तत्पश्चात् उसके अनुयायियों की संख्या में वृद्धि होती गयी और अनेक बौद्ध विद्वानों ने बौद्धधर्म सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की। इन सबमें अलग-अलग मत देखने को मिलते हैं, लेकिन सभी अपने को बुद्ध की वाणी होने का दावा करते हैं। इन ग्रन्थों के अनुशीलन से उनका वेदविरुद्ध होना स्पष्टतया सिद्ध होता है। कुछ आधुनिक शोधकर्ताओं का यह मत है कि बुद्ध स्वयं वेदविरोधी नहीं थे परन्तु उनके अनुयायियों ने उनको गलत समझा। इस सम्बन्ध में भी बौद्ध विद्वानों का मतैक्य नहीं है। इसलिये, इस प्रकार के अन्तहीन विवाद से कोई लाभ नहीं है। भविष्य में यदि यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि बुद्ध वेदविरोधी नहीं थे तो यह हमारे लिये संतोषप्रद ही होगा। इतिहास साक्षी है कि गत 2000 वर्षों में रचित बौद्धग्रंथों ने तो समाज और देश की दुर्गति ही की है। बौद्धधर्म को अपनाने वाले राजा युद्धों से विरत हो क्लीव बन गये। संघ को सहयोग देने के बुद्ध के आदेश का पालन करते हुये राजाओं ने बलपूर्वक प्रजा को बौद्धधर्म स्वीकार करने के लिए विवश किया। जो बौद्ध वैदिक धर्म का नाश करना चाहते थे उन्होंने विदेशी आक्रमणकारियों की सहायता की। अहिंसा के कट्टर समर्थक होने के कारण उन्होंने आमिषभोजी जनसमुदाय को अछूत बना दिया। इस प्रकार राष्ट्र का नाश करके, वे स्वयं भी उन हून और मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा, जिनकी उन्होंने सहायता की थी, नष्ट कर दिये गये।

इन कारणों से ही भगवान् शंकराचार्य ने अत्यन्त कड़े शब्दों में बौद्धमत की आलोचना की है। बौद्धों के दुर्व्यवहार से प्रजा अत्यन्त दु:खी थी। ऐसे समय में, आपद् धर्म का पालन करते हुये पुष्यमित्र नामक ब्राह्मण ने एक देशभक्त राजा के कर्तव्य पालन करते हुये शत्रुओं को बाहर खदेड़ दिया और देश-द्रोही बौद्धों का दमन करके एकचक्राधिपत्य स्थापित किया। योगसूत्र प्रणेता महर्षि पतञ्जलि ने उनसे अश्वमेध यज्ञ करवाया था।

आज से लगभग तेरह शताब्दी पूर्व तक बौद्धधर्म कुछ एक विद्वानों तथा कुछ अनजान लोगों तक ही सीमित था। परन्तु बुद्ध द्वारा प्रतिपादित दोषपूर्ण सिद्धान्तों ने धीरे-धीरे व्यक्तिपरक विचारधाराओं को जन्म देना प्रारंभ कर दिया जिससे समाज में अलग-अलग पंथ और अंधविश्वास उभरने लगे। वेदाध्ययन कुंठित हो गया और वर्णाश्रम व्यवस्था गड़बड़ा गयी। उसे पुन: स्थापित करने के लिये ही आचार्य शंकर का आविर्भाव हुआ। लेकिन यह कथन आधुनिक बुद्धिजीवियों के गले नहीं उतरता। इसमें कुछ नया नहीं है। इसका आरंभ तो स्वयं बुद्ध से ही हो गया था। उनके अनुसार, वह वर्णव्यवस्था जिसे लोग आज तक स्वीकार करते आये हैं ठीक नहीं है। इसलिये उसकी रक्षा करने का कोई औचित्य नहीं है। आखिर वर्णधर्म का अर्थ क्या है? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कुल में जन्मा व्यक्ति उस वर्ण का कहलाता है। शास्त्र प्रत्येक वर्ण के लिये अलग-अलग कर्म और जीवन-विधान का निर्देश करता है। तदनुसार जीवन जीना ही वर्णाश्रमधर्म कहलाता है। उनके अनुसार यह कथन वास्तविकता से मेल नहीं खाता, क्योंकि शास्त्रों में प्रत्येक वर्ण के लिये जिन-जिन गुणों का उल्लेख किया गया है, वे गुण केवल उन्हीं वर्णों के लोगों में नहीं पाये जाते बल्कि दूसरे वर्णों में जन्में लोगों में भी पाये जाते हैं इसीलिये, किसी भी व्यक्ति के वर्ण का निर्णय उसके गुणों के आधार पर ही किया जाना चाहिये न कि उसके जन्म के आधार पर।

इस विवाद पर हमें सन्तुलित मन से विचार करना चाहिये।

इस विमर्श से पूर्व हमें यह विश्लेषण करना है कि ऐसा तर्क करने वाले, विरोद्ध करने पर भी, क्या-क्या स्वीकार करते हैं। जितना पक्ष उनको

स्वीकार्य है उतना निश्चय करने के पश्चात् फिर शेष बचे विषयों का निश्चय करना है। उनका तर्क यह स्वीकार करता है कि एक सुष्ठु समाजव्यवस्था के लिये चतुवर्णीय विभाजन आवश्यक है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि यह विभाजन गुणों के आधार पर होना चाहिए और शास्त्र जिस गुण को जिस वर्ण के लिये निश्चित करते हैं वही गुण उस व्यक्ति का वर्ण निश्चित करता है। एतावता विचार का विषय यह रह जाता है कि वर्ण का निश्चय उसके वर्तमान गुणों के आधार पर करना है या उसके जन्म के आधार पर। उनका कहना है कि वर्ण का निश्चय आचरण और चरित्र के आधार पर होना चाहिए न कि जन्म के आधार पर।

यह कथन कहाँ तक सही है? यह स्पष्ट है कि सत्त्व, रजस और तमस, ये तीनों गुण प्रत्येक व्यक्ति में पाये जाते हैं और संदर्भानुसार अभिव्यक्त होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति कभी सात्त्विक, कभी राजसिक और कभी तामसिक रूप से व्यवहार करता है। एक ही गुण, अलग-अलग व्यक्तियों में, अलग-अलग ढंग से अभिव्यक्त होता है। उदाहरण के लिये, तमोगुण एक व्यक्ति को आलसी बनाता हुआ निश्चेष्ट कर सकता है। किसी और व्यक्ति को यही तमोगुण निद्रा में भेज सकता है और किसी को मदिरापान की तरफ भेज देता है। रजोगुण के प्रभाव में कोई क्रोध करता है, किसी की केवल भृकुटी तन जाती है, तो कोई मार-पीट करता है, और कोई किसी का वध तक कर सकता है। इसी प्रकार सत्त्वगुण की अधिकता में कोई व्यक्ति प्रेम से अपने बच्चे का आलिंगन करता है तो कोई शास्त्र का अध्ययन करता है और कोई ध्यान करता है। यह असमानता क्यों रहती है? यह निर्भर करती है बाकी दोनों गुणों की मात्रा पर। प्रत्येक व्यक्ति में तीनों गुणों के रहने पर भी, ये अलग-अलग व्यक्तियों को अलग-अलग प्रकार से व्यवहार करने के लिये प्रेरित करते हैं। इतना ही नहीं, एक ही गुण के प्रभाव में एक ही व्यक्ति अलग-अलग समयों पर अलग-अलग व्यवहार करता है। प्रत्येक व्यक्ति में रहने वाले गुणों का परिमाण क्या है? गुणों के परिमाण किस गति से किस दिशा में बदल रहे हैं? इन सब का निश्चय यदि हम एक व्यक्ति को देखने मात्र से ही कर सकते तो शायद हम उसके वर्ण का निर्धारण कर पाते। परन्तु ऐसा करना क्या मानवप्रयास से संभव है? क्या कोई वैद्य नाड़ी

परीक्षण करके एतद् विषयक प्रमाणपत्र दे सकता है? अथवा क्या किसी यन्त्र की सहायता से यह कार्य सम्पन्न किया जा सकता है? यदि कोई ऐसा कर भी पाये तो क्या दूसरे उसके निर्णय को स्वीकार करेंगे? निर्णय सही है या गलत यह कौन तय करेगा? अगर हम स्वयं ही अपने वर्ण को तय करने लगें तो क्या इससे समाज में अव्यवस्था नहीं फैलेगी जबकि वर्णधर्म का उद्देश्य तो समाज में शान्ति और सौहार्द्र स्थापित करना है?

ऐसी स्थिति में स्वाभाविक ही यह जिज्ञासा होती है कि एक व्यक्ति के गुणों का निश्चय कौन, किसलिए और कैसे कर सकता है? भगवान् के सिवा इसका निर्धारण करने वाला और कौन हो सकता है? जो किसी मानव के द्वारा नहीं किया जाता उसका करने वाला केवल भगवान् ही होता है। असल में भगवान् की परिभाषा ही यही है। जगत और उसमें रहने वाले प्राणियों की सृष्टि केवल सर्वसमर्थ, सर्वशक्तिमान् प्रभु ही कर सकते हैं। यह कार्य किसी अन्य के द्वारा अशक्य है। मानव तो मनचाहे कर्म करता हुआ उनके फल भोगने को लाचार है। परन्तु ईश्वर, जो कर्म या उसके फल से मुक्त है, मानव के गुणों का और गुणों के प्रभाव से किये गये कर्मों का सदैव साक्षी है। इसलिए, सब भूतों में अवस्थित ईश्वर ही व्यक्तिविशेष के स्वाभाविक गुण का निर्णय कर सकते हैं।

दूसरा प्रश्न यह है कि गुणों का निर्धारण क्यों किया जाये? इसका उत्तर यह है: 'हम गुण और कर्मों के जटिल जाल में उलझे हुए हैं। परम शान्ति की प्राप्ति के लिये गुणातीत होना आवश्यक है। केवल ईश्वर ही है जो हमें इस दलदल से निकालकर शाश्वत आनन्द में बसा सकते हैं। इस मोक्ष-स्थिति के लिये स्वीकृति देने वाले मानव को मोक्ष की प्राप्ति के लिये आवश्यक योग्यता प्राप्त करने के लिये, ईश्वर द्वारा निर्धारित कर्म करने होते हैं। ऐसे में हमें जो कर्म करने हैं वह हमारे स्वाभाविक गुणों पर आधारित होने चाहिए और उन कर्मों में उन गुणों को नियमित करने का सामर्थ्य भी होना चाहिए। परन्तु हम इन दोनों से अनभिज्ञ हैं कि वे गुण कौन से हैं और कर्म के द्वारा कैसे गुणातीत हुआ जा सकता है। इनका निश्चय केवल सर्वसमर्थ ईश्वर ही कर सकता है। भगवान् हमारे गुणों का निर्धारण कैसे करते हैं? उन्होंने स्वयं इस विषय में बताया है कि गुण और कर्मों के बीच में एक अन्योन्याश्रय तथा

अटूट सम्बन्ध है। एक का प्रभाव सदा दूसरे पर पड़ता है। इसीलिये गुण अत्यन्त जटिल हैं। ईश्वर, जो सदैव मनुष्य के गुणों और कर्मों का साक्षी है, मृत्यु के समय उसके अगले जन्म के गुणों का निश्चय करता है और उपयुक्त परिवार में उसका जन्म कराता है। किन माता-पिता के यहाँ जन्म लेने से मनुष्य प्रगति कर सकेगा, इसका निर्णय स्वयं भगवान् करते हैं। साथ ही साथ उस कुल के योग्य कर्म भी उसके लिये निर्धारित करते हैं। भगवान् के बताये उन कर्मों को करने से मनुष्य उन्नति को और उनका तिरस्कार करने पर अवनति को प्राप्त करता है। भगवान् का कथन 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म विभागशः'(गीता 4/13) यह स्पष्ट करता है कि गुणों का मूल है हमारे गत जन्मों में उपार्जित संस्कार, परन्तु कर्म तो इस जन्म के लिये निर्देशित हैं। चूंकि बुद्ध ने ईश्वर को छोड़ दिया था, वह पथ जो इस निर्णय तक ला सकता था, उनके लिये बन्द था।

अब तक वर्णधर्म की चर्चा की गयी। अब आश्रमधर्म क्या है? विवेकी पुरुष यह जानते हैं कि जीवनपर्यन्त श्रम अनिवार्य है-'कुर्वन्नेवेहकर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' (ईश उपनिषद मन्त्र 2)। श्रम किसलिए? मोक्षप्राप्ति के लिये। परन्तु मोक्ष में कोई सांसारिकता नहीं है और जब तक मनुष्य गुणों के प्रभाव में है वह संसारिक जीवन नहीं छोड़ सकता। संसार से एकदम मोक्ष मे जाना संभव नहीं है। मनुष्य को संसार में रहते हुए ही मोक्ष की तरफ बढ़ना है। इस दिशा में शास्त्र ने चार सोपानों का निर्देश किया है। ये हैं चार आश्रम। पहला ब्रह्मचर्य आश्रम है जिसमें मुख्य श्रम है अध्ययन। इस आश्रम में कम से कम उसे मोक्षसिद्धांत से परिचय जरूर हो जाना चाहिए। दूसरा है गृहस्थ आश्रम। इस स्तर का परिश्रम है ऐसे कर्म करना जो मन को मोक्ष के लिये तैयार करते हैं। तीसरा है वानप्रस्थ आश्रम। गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति गुणों के बल से प्रेरित हो सांसारिक सुख भोगता है, तत्पश्चात् विवेक आने के बाद वह वन में जाकर मोक्षप्राप्ति के लिये कठिन तपस्या करता है। यही इस आश्रम का श्रम है। जब यह प्रयास परिपक्व हो जाता है तो व्यक्ति को सम्पूर्ण वैराग्य हो जाता है और वह अपना आगे का जीवन सदैव भगवान् के चिन्तन में बिताता है। यह है अन्तिम संन्यास आश्रम। इन आश्रमों के द्वारा मनुष्य क्रमानुसार सत्कर्मों द्वारा अपने गुण बदलता जाता है और फिर मोक्ष

को, जो कि गुणातीत है, प्राप्त करता है। इसलिए, एक व्यक्ति का अपने लिये यह कहना गलत है कि 'मुझ में अन्य वर्ण के गुण हैं और इसलिये मैं उस वर्ण के कर्म ज्यादा अच्छे कर सकता हूँ, अत: मैं उसी वर्ण के कर्म करूँगा'–'श्रेयान्स्वधर्मो विगुण: पर धर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:।।'–अगर कोई व्यक्ति उचित ढंग से अपने वर्ण के कर्म सम्पादित नहीं कर सकता, तो भी अपने वर्णोचित कर्मों को करने का प्रयास अपने आप में उसके लिये कल्याणकारी है। दूसरे वर्ण के कर्म करना हानिकारक है। अपने वर्ण के लिये निर्धारित कर्म करना ही आगे बढ़ने का साधन है।

यहाँ एक और अंश की तरफ ध्यान देना आवश्यक है। शास्त्रानुसार केवल वैश्यों को ही धनसंचय की अनुमति है। यदि केवल इसीलिए ये तर्क दिए जा रहे हैं तो वे निरर्थक हैं। इसका कारण है कि अपरिहार्य स्थितियों में शास्त्र जीवनयापन के लिये एक व्यक्ति को दूसरे वर्ण की वृत्ति अपनाने का अवकाश देता है। उपयुक्त लगने पर अगर उसी वृत्ति का पाँच पीढ़ियों तक पालन किया जाता है तो वे उसी वर्ण के हो जाते हैं। प्रतिबन्ध केवल आमुष्मिक कर्मों के विषय में हैं।

यह कैसे कहा जा सकता है कि केवल वर्णधर्म के पालन से ही समाज में शान्ति और समृद्धि बनी रह सकती है? जरा विचार करके देखिए। हमारा देश गत 2500 वर्षों से लगातार विदेशी आक्रमणों का शिकार रहा है। यदि भारत में समृद्धि नहीं होती तो फारसी, यूनानी, यवन, हूण, शक, अरब, अंग्रेज, फ्रांसीसी, डच सब भारत पर आक्रमण करने नहीं आते। इस समाज के अन्त:बल की तरफ देखिए–दस शताब्दियों के मुसलिम शासन और दो शताब्दियों के अंग्रेज कुशासन ने लूटमार, हिंसा, धोखाधड़ी और अमानवीय व्यवहार के द्वारा इस राष्ट्र को नष्ट करने की कोशिश की, परन्तु इसके बावजूद यह राष्ट्र जीवित है। केवल जीवित ही नहीं, उन्नति की ओर अग्रसर है। क्या किसी अन्य राष्ट्र को ऐसा गौरव प्राप्त है? इस राष्ट्र के शत्रु कुकुरमुत्तों की भांति उपजे, फूले और नष्ट हो गये। उनकी आयु केवल एक–दो शताब्दी रही। भारत जीवित है और अमर है। यह स्पष्ट विचार भी हमारे कुछ बुद्धिजीवियों को दिखायी नहीं देता। अन्धे होकर वे हमारे शत्रुओं

से मिलकर हमारी वर्णाश्रम व्यवस्था को नष्ट करने का प्रयत्न करते रहते हैं। परन्तु धर्मावलंबियों को इससे चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। अभी तक न जाने कितने हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण, कंसादिकों ने तथा मुसलमानों और अंग्रेजों ने धर्म को आघात पहुँचाने का प्रयत्न किया परन्तु सब चट्टान से टकराने वाले मिट्टी के ढेले के समान नष्ट हो गये। यद्यपि हमें इन अविवेकी साथियों की अपने धर्म के अन्तः बल को पहचानने की असमर्थता पर दुःख होता है, परन्तु उनकी अविवेकता हमारे धर्म को कोई हानि नहीं पहुँचा सकती।

यह सत्य है कि कैसी भी व्यवस्था क्यों न हो, काल उसको ढीला कर ही देता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाली धार्मिक विधियों का पालन भी शिथिल हो जाता है। यह प्रकृति का नियम है। इसलिये, जब भी व्यवस्था में दोष नजर आयें तो उनके निवारण का प्रयत्न करना चाहिए। अनादि काल से चली आ रही व्यवस्था को नष्ट नहीं करना चाहिए। सिरदर्द का उपचार सिर काट देना नहीं है। वर्ण समाजपुरूष के अंग हैं। वर्णधर्म इस समाज का लहू है। उन लोगों में भी, जिन्होंने ईसाई अथवा इस्लाम धर्म में परिवर्तन कर लिया है, यह धर्म किसी न किसी रूप में कायम रहा है। बाली द्वीप के निवासी आज भी गर्व से कहते हैं कि वे वर्णधर्म के अनुयायी हैं। इसलिए, समाज के शुभचिंतकों एवं बुद्धिजीवियों के लिये यही हितकारी है कि वे इस व्यवस्था का मार्जन करते हुए उसे साध्य बनाएं। इस विषय में एक उदाहरण देखिए:–जापान में विद्युतप्रसारण के लिये लगाए गये खंभों के तारों पर पक्षी घोंसला बना लेते थे। अक्सर बिजली के झटके से पक्षी मर जाते थे और विद्युतप्रसारण बन्द करना पड़ता था। पहले कर्मचारियों ने पक्षियों को मारकर हल निकालने का प्रयत्न किया। फिर भी पक्षियों ने घौसले बनाने बन्द नहीं किये। तत्पश्चात् वैज्ञानिकों से कोई उपाय खोजने को कहा गया। हर दृष्टिकोण से समस्या का विश्लेषण करने के बाद उन्होंने यह परामर्श दिया कि बिजली के खंभों के साथ–साथ (parallel) ही पक्षियों को घोंसला बनाने की सुविधा दी जाये। ऐसा किया गया; समस्या हल हो गयी और पक्षियों के प्राण भी बच गये। इसी प्रकार हमारे समाज के बुद्धिजीवियों को भी सोच–विचार कर वर्णव्यवस्था में आयी त्रुटियों का

निष्पक्ष चिन्तन करते हुए समाधान निकालने चाहिए जिससे समाज में शान्ति और सौहार्द्र स्थापित हो पाये।

कुछ विचारकों के अनुसार वर्णव्यवस्था ने समाज में ऊँच-नीच की भावना स्थापित की जो कि धर्मपरिवर्तन का मुख्य कारण है। परन्तु इतिहास कुछ और ही कहता है। बौद्ध धर्म, जिसने वर्णव्यवस्था को नकार दिया था, सिंध, गान्धार और बंग देश तक फैल गया था। मुसलमानों के आक्रमण के बाद, इन क्षेत्रों में रहने वाले बौद्ध धर्मपरिवर्तन करके मुसलमान बन गये। ये क्षेत्र वर्तमान के पाकिस्तान और बँगलादेश हैं। लेकिन, जिन राजाओं ने वैदिक वर्णव्यवस्थाओं को बनाये रखा, उनके राज्यों में ऐसा नहीं हुआ। उनमें एक राज्य था मगध जो आज का बिहार है। त्रिपुरा राज्य में हिन्दू धर्म आज भी अपना अस्तित्व बनाए हुए है। इसका कारण है वहाँ के ब्राह्मणों द्वारा अत्यन्त बुद्धिमानी से वर्णधर्म को बचाये रखना। केवल इतना ही नही, शंकराचार्य के समय से पूर्व, जो चाण्डाल जाति के लोग बौद्ध धर्म में परिवर्तित हो गये थे, वहाँ प्रचलित अस्पृश्यता से निराश होकर अपने मूल वैदिक धर्म में लौट आए। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि वैदिक धर्म में कोई ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं है। हमारे लोगों का इस्लाम धर्म में परिवर्तित होने का कारण है मुसलमानों द्वारा हिंसा और बल का प्रयोग। ईसाइयों ने यही कार्य छल-कपट एवं प्रलोभन देकर किया। इतना होने पर भी, यह सर्वविदित है कि परिवर्तन के बाद भी इन धर्मों ने कभी इन नये प्रवेशियों को समान दर्जा नहीं दिया बल्कि सदा हीन ही माना है। इसलिए यह कहना निराधार है कि वैदिक धर्म में प्रचलित ऊंच-नीच के भेदभाव के कारण हमारे लोगों ने धर्म परिवर्तन किया।

धर्मपरिवर्तन का जो भी कारण रहा हो, यह आवश्यक है कि परिवर्तितों को स्वधर्म में वापिस लाया जाए। नवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही सिन्धु देश के महात्मा देवल ने एतद्विषयक राजाज्ञा प्रसारित की थी, जिसे बाद में मेधातिथि ने आगे बढ़ाया। ये दोनों ही महापुरुष शंकराचार्य के समकालीन थे और सम्भवतः उन्होंने शंकराचार्य के कथन 'चण्डालोऽस्ति स तुद्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम' से प्रेरणा प्राप्त की होगी। बाद में अनेक सन्तों ने इस कार्य को आगे बढ़ाया। समर्थगुरू रामदास के निर्देशन में शिवाजी महाराज

ने और स्वामी विद्यारण्य की प्रेरणा से विजयनगर के हुक्का-बुक्का शासकों ने प्रशंसनीय कार्य किया। आधुनिक संचार तथा बेहतर यातायात सुविधाओं के कारण वैदिकधर्म विश्व में सर्वत्र लोकप्रिय हो रहा है। अमरीका के सत्तर प्रतिशत लोग हिन्दू देवी-देवता, पुनर्जन्म और योग में विश्वास एवं रुचि के कारण अपने को हिन्दू मानते हैं। पश्चिमी देशों में ईसाई धर्म का ह्रास हो रहा है। अरब देशों में उपद्रव इस बात का संकेत है कि उनकी सम्प्रदायिक विचारधारा के अन्त का प्रारंभ हो गया है। हमारे अपने देश में इन सम्प्रदायों के अनुयायी अपने प्राचीन धर्म में लौटने को उत्सुक नजर आते हैं। अपने स्वधर्म के प्रति उनका प्रेम, जो अभी तक अव्यक्त था, अब उभर रहा है।

हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिये शंकराचार्य जी की पूर्व तथा पश्चाद्वर्ती परिस्थितियों का इतना ही विश्लेषण पर्याप्त है। अब इस पुस्तक के विषय में जो शंकराचार्य जी के जीवन चरित्र को एक रोमांचकारी उपन्यास के रूप में प्रस्तुत करती है। हमारे समाज के भव्य इतिहास में संन्यासियों का बहुत कम उल्लेख देखने को मिलता है। इसीलिये शंकराचार्य के समय में भी कुछ लोग तर्क करते थे कि संन्यासधर्म श्रुत्युक्त नहीं है और केवल बाद में स्मृतिग्रन्थों द्वारा इसे प्रतिपादित किया गया। शंकरभाष्य ने स्पष्ट किया है कि यह कथन गलत है। संन्यासी हमेशा रहे हैं परन्तु अपनी जीवनशैली के कारण उन्होंने कभी आम लोगों का ध्यान आकर्षित नहीं किया। शास्त्रों के अनुसार, संन्यासियों को त्यागवृत्ति का आश्रम ले, भिक्षा से पेट भरते हुये, किसी निर्जन स्थान में निवास करना होता है। परन्तु जब भी धर्म का ह्रास होता था वे अपने एकान्तवास से निकलकर आपद्धर्म का पालन करते हुये आश्चर्यजनक कार्यों को सम्पन्न करते थे। शंकराचार्य से बारह शताब्दी पूर्व, सिकन्दर के आक्रमण के समय, हमें दण्डी संन्यासियों द्वारा किये गये विस्मयकारी कार्यों का विवरण मिलता है। आज तक भी दण्डी संन्यासी एवं उनके संगी इस परम्परा को निभाते रहे हैं। मधुसूदन सरस्वती, समर्थ रामदास जिन्होंने शिवाजी महाराज का मार्गदर्शन किया, सन्त विद्यारण्य जिन्होंने हक्का-बुक्का का मार्गदर्शन किया, झाँसी की रानी के मार्गदर्शक गुरु गंगानाथ, ये सब इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। वे वैरागी ही थे जिन्होंने 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम की मनोभूमि तैयार की थी।

श्री मधुसूदन सरस्वती के जीवन की एक घटना इस प्रकार है:–उस समय अकबर राजा ये और बीरबल उनके मन्त्री थे। अकबर राणा प्रताप के कट्टर शत्रु थे। राणा प्रताप ने स्वधर्म की रक्षा के लिये अपने राज्य समेत सब कुछ न्यौछावर कर दिया था। बीरबल, जो राणा प्रताप के सम्बन्धी थे, इस बात पर दु:खी थे कि वे इस नृशंस कृत्य के बाद भी अकबर के मन्त्री बने हुये थे। इसके प्रायश्चित के लिए वे कुछ न कुछ करने को व्याकुल थे। इसका अवसर उन्हें तब प्राप्त हुआ जब उन्होंने सुना कि मुसलमान फकीर संन्यासियों पर आक्रमण करके उनकी बर्बर हत्या कर रहे हैं। उपयुक्त समय पर, जब अकबर उनसे प्रसन्न थे, बीरबल ने उनके सामने यह विषय उठाया। अकबर ने यह कहकर टाल दिया कि वह फकीरों और संन्यासियों के परस्पर मामले में दखल नहीं दे सकते। बीरबल ने फौरन अकबर से इस विषय में शाही फरमान जारी करवा दिया। फिर बीरबल ने यह फरमान बंगाल में मधुसूदन सरस्वती को यह कहते हुये सौंप दिया कि वे संन्यासियों की रक्षा में इसका उचित उपयोग करें। मधुसूदन सरस्वती इसको राजस्थान में एक राणा के पास ले गये और उससे एक वर देने की प्रार्थना की। राणा, जो इतने महान् संन्यासी के अपने महल में आने पर अत्यन्त प्रसन्न था कहा–"आपको क्या वर चाहिए? अगर मेरे सामर्थ्य में हुआ तो अवश्य दूँगा।" सन्त ने उनसे सैनिकों की एक टुकड़ी माँगी। राणा पहले तो उनकी बात सुनकर भयभीत हुआ परन्तु जब मधुसूदन सरस्वती ने उन्हें अकबर का फरमान दिखाया तो उसने निर्भय होकर सैनिकों की एक टुकड़ी उनको दे दी। मधुसूदन सरस्वती ने उन सैनिकों को नागा साधुओं के रूप में दीक्षित किया और उन पर फकीरों से संन्यासियों की रक्षा का भार सौंपा। इन नागा सैनिकों ने फकीरों का सफाया कर संन्यासियों की रक्षा की। इस प्रकार इस समस्या का समाधान हुआ। कुछ विद्वानों के अनुसार नागा सम्प्रदाय के संस्थापक भी आचार्य शंकर ही थे। परन्तु एतद्विषयक कोई प्रमाण हमें नहीं मिला है।

शंकरविजय के कुछ पाठों में यह कहा गया है कि शंकराचार्य जी ने बौद्धों की हत्या कराई। यह गलत है। इसका सीधा-सीधा कारण है कि शंकराचार्य के समय तक बौद्ध लोग रह ही नहीं गये थे जो उनको मारा

जाता। परन्तु दो हत्याएँ थीं–एक श्रीशैल में और दूसरी कर्नाटक में। वे भी कापालिकों की, बौद्धों की नहीं। ये भी शंकराचार्य जी के शिष्यों द्वारा उनकी रक्षा के प्रसंग में की गयी।

आचार्य शंकर ने चमत्कार केवल दो ही दिखाए हैं–नर्मदा की बाढ़ को रोकना और परकायाप्रवेश। ये कल्पनाएं नहीं हैं। ये दोनों ही कार्य उन्होंने योग–सिद्धियों से पूर्ण किये। परन्तु ये वह कारण नहीं है जिसकी वजह से शंकराचार्य जी का नाम इतिहास के स्वर्णिम अक्षरों में लिखा गया है। उसका कारण है उनके व्यक्तित्व की गहराई और विस्तार, जिसका दर्शन हमें उनके द्वारा धर्म के पुनरुत्थान में निभाई गयी भूमिका के द्वारा होता है। शंकराचार्य के सभी जीवनीकार उनके जीवनवृत्त के विषय में ऐतिहासिक स्रोतों की कमी से अवगत हैं। उनके जन्मस्थान, आठ वर्ष की आयु में गृहत्याग, गोविन्द भगवत्पाद से संन्यासग्रहण, प्रस्थानत्रयी पर भाष्यलेखन, तीन बार समस्त भारत की पदयात्रा और उनकी दिव्य जीवन यात्रा का बत्तीस वर्ष की आयु में अन्त, ये तो सभी के द्वारा स्वीकृत हैं। परन्तु, विभिन्न शंकर विजयों में कथित कुछ प्रसंगों के इतिहाससम्मत न होने पर उन्हें निराशा होती है। इसका मुख्य कारण है इतिहास की आधुनिक पाश्चात्य धारणा। उनकी धारणानुसार लिखे गये इतिहास में घटनाओं का विस्तृत विवरण हो सकता है। शायद कई शताब्दियों का इतिहास इस प्रकार संकलित कर नापा जा सकता है। परंतु ऐसे इतिहास के अध्ययन से लाभ बहुत अल्प ही है।

अंग्रेजी में एक प्रसिद्ध कहावत है:– "इतिहास पढ़ने से मनुष्य को केवल एक ही लाभ मिलता है कि वह कुछ नहीं सीखता"। कौन भारत का इतिहास बता सकता है? ये वह कर्मभूमि है जिसने सदैव धर्म और अधर्म के संघर्ष को देखा है। समझने से लाभ भी क्या है? निश्चित तौर पर, सभी संघर्ष मनुष्यों के स्वाभाविक स्वार्थों के आपसी टकराव से उत्पन्न होते हैं, जिनका मूल कारण है मनुष्य के वे छह शत्रु–काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ और मत्सर्य। वह इतिहास जो सदैव अपने को दुहराता रहता है उसमें किसी की क्या रुचि हो सकती है? इसलिए, हमारी परम्परा में इतिहास एक अन्य प्रकार से कहा जाता है। मुख्य घटनाओं पर आधारित और लेखक की कल्पना शक्ति द्वारा रूपान्तरित, नवरसों से सम्मिश्रित साहित्य इतिहास के

रूप में जन्म लेता है, जिसका उद्देश्य है लोगों को अलग शिक्षा देना। घटनाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन वहाँ नहीं होना चाहिए और वहाँ होता भी नहीं। परन्तु जो धर्म हमें वहाँ से सीखना है उसकी विस्तारपूर्वक चर्चा होनी चाहिए। रामायण और महाभारत इसी दृष्टि से इतिहास ग्रन्थ हैं। शंकराचार्य का जीवनवृत्त भी हमें इसी दृष्टि से देखना है।

सभी शंकरविजय ग्रन्थ पुराणों की शैली में रचे गये हैं और निःसन्देह अत्यन्त सुन्दर हैं। परन्तु जो आधुनिक परिवेश में पले-बढ़े हैं, उन्हें उपन्यास शैली अधिक रुचिकर लगती है। कुछ दशक पूर्व, महाब्रह्मानन्द और महाक्षत्रिय के लेखक श्री देवडू ने एक कृति 'महासंन्यासी' की रचना की थी, जो शंकराचार्य की जीवनगाथा पर आधारित थी, परन्तु यह प्रकाशित नहीं हुई। बाद में, मैसूर के श्री लक्ष्मी नरसिंह शास्त्री ने शंकर का इतिहास लिखा जो काफी प्रसिद्ध हुआ। आपके हाथ में जो यह महापरिव्राजक नामक ग्रन्थ है, वह भी इसी प्रकार एक रोचक उपन्यास की शैली में लिखा गया है। इस ग्रन्थ के माध्यम से शंकराचार्य के दर्शन को सरलता से समझाने का प्रयास किया गया है। जहाँ ऐसा नहीं हो सका है वहाँ कुछ जटिलता से भी समझाया गया है। माधवीय शंकर विजय का अनुसरण करते हुये श्री पद्मपादाचार्य से सम्बन्धित कुछ प्रसंगों को इसमें ग्रहण नहीं किया गया है। इनमें- गुरुजी के समक्ष व्यंग्योक्तियाँ करना, सहशिष्य गिरि की एक खंभे से तुलना करना, जब गुरुजी ने सुरेश्वराचार्य को उनके भाष्य पर टीका लिखने को कहा तो पद्मपादाचार्य का अन्य गुरुशिष्यों से मिलकर इसका विरोध करना और इससे गुरुजी का डर जाना और फिर उनका सुरेश्वर से कहा गया अपना वचन वापिस ले लेना या सुरेश्वर का पद्मपाद को श्राप देना, ये सब मनगढ़न्त कल्पनाएं हैं। ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं:-

ऐतिह्यमाश्रित्य वदन्ति चैवं तदेव मूलं मम भाषणेऽपि।
यावत्कृतं तावदिहास्य कर्तुः पापं ततः स्याद्द्विगुणं प्रवक्तुः।।

'इस कथा को, जिसका आधार केवल अफवाहें हैं, कहने वाले को, पाप करने वाले से भी दुगुना पाप लगता है।' इस चेतावनी को गंभीरता से लेते हुये हमने इन घटनाओं का उल्लेख भी नहीं किया है।

एक नया पात्र, जो अन्यत्र नहीं पाया जाता यहाँ प्रस्तुत किया गया है। ये है पृथ्वीधराचार्य। यह कोई काल्पनिक पात्र नहीं है। बेल्लालकुल उमामहेश्वर शास्त्री जी ने दृढ़ता से कहा है कि पृथ्वीधर ने ब्रह्मसूत्र पर एक भाष्य लिखा था जिसका उन्होंने आचार्य शंकर से मिलने के बाद परित्याग कर दिया था। उनके विचार में पृथ्वीधर ने वरीयता प्राप्त की थी। आक्सफर्ड के बोडलेन पुस्तकालय में 'ऑफ्रेस्ट' नामक एक पुस्तक सूची है जिसमें वैकुण्ठपुरी जी विरचित 'द्वादश महावाक्य विवरण' नामक ग्रन्थ का उल्लेख है। उसके अनुसार पृथ्वीधर शंकराचार्य के शिष्य थे। कहा जाता है कि दशनामी संन्यास सम्प्रदाय के सूत्रधार ये महापुरुष ही थे। पृथ्वीधराचार्यः तस्यापि शिष्याः दशतीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागराः सरस्वती, भारती च पुरी नामानि वै दशः। अगर शंकर सिद्धान्त के प्रचारक पद्मपादादि चार शिष्य थे, तो पृथ्वीधर, जिनमें सम्प्रदाय का अनुशासन बनाए रखने की क्षमता थी, ने संगठन और व्यवस्था का उत्तरदायित्व सम्भाला। उसी ऑफ्रेस्ट पुस्तक सूची में अन्य स्थान पर उन्हें 'शृंगेरी के पृथ्वीधराचार्य' कहा गया है। परन्तु शृंगेरी के पीठाधिपतियों में उनका नाम नहीं है। शायद वे अपनी वृद्धावस्था में आकर शृंगेरी में बस गए होंगे।

स्वामी परमानन्द भारती

अध्याय एक

कैलाश से कालड़ी तक

केरल राज्य का कोई एक ग्राम। चारों ओर हरियाली से पूर्ण नारियल के बगीचे, केलों के बाग और जल से परिपूर्ण नहरें। इन सबके बीच एक घर में कोई उत्सव मनाया जा रहा है। सम्बन्धी और मित्र दोपहर का भोजन करने के पश्चात् कोने में ऊंघ रहे हैं। एक और स्थान में चटाई पर बैठी महिलाएँ आपस में गपशप कर रही हैं।

"अरे भगवती! बेचारी आर्याम्बा की कोई सन्तान नहीं है। वह बहुत दुःखी है।"

पास बैठी एक दूसरी महिला ने पूछा, "तुम किस आर्याम्बा की बात कर रही हो?"

"कालड़ी वाली आर्याम्बा जो शिवगुरु की पत्नी है।"

"अरे! क्या तुम्हें पता नहीं है कि विवाह के लगभग सत्ताईस वर्ष बाद आर्याम्बा ने एक पुत्र को जन्म दिया है?"

पहली महिला ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा "ऐसा है क्या? मुझे तो पता ही नहीं था।"

"जो भी उनके यहाँ जाता है, उनके पुत्र की बहुत प्रशंसा करते नहीं थकता। लगता है वह अत्यन्त मेधावी है और कहते हैं वह सुन्दर भी बहुत है।"

जनकाम्मा, जो पास बैठी सब सुन रही थी बोली, "लगता है वह बहुत प्रतिभाशाली है। सुना है दो वर्ष की आयु में ही वह ऐसे प्रश्न पूछने लगा था जिनका उत्तर उसके पिता के पास भी नहीं था।"

एक अन्य महिला कृष्णवेणी ने इस विलक्षण बालक के विषय में एक दिलचस्प बात बताई, "सुना है उसने छह वर्ष की आयु में ही चारों वेदों का अध्ययन कर लिया था। ऐसा लगता है कि वह एक बार सुनते ही चीजों को समझ लेता है।" इस प्रकार गपशप चल रही थी।

"तीन वर्ष की आयु में ही उसका उपनयन संस्कार करा दिया गया था। सुना है उसने गायत्री मन्त्र भी सिद्ध कर लिया है।"

"मैंने भी ऐसा ही सुना है। बेचारे शिवगुरु स्वर्ग सिधार गए। पता है, वही बालक अब उनका गुरुकुल चला रहा है।"

"विश्वास ही नहीं होता। मेरे पति उस तरफ पौरोहित्य कर्म के लिए जाते रहते हैं। इस बारी मैं भी उनके साथ जाऊँगी और इस अद्‌भुत बालक को स्वयं देख कर आऊँगी।" भगवती अम्मा ने कहा।

यह अद्‌भुत बालक कौन है?

केरल के कालड़ी ग्राम में एक अत्रि गोत्रीय ब्राह्मण रहते थे, जिनका नाम था विद्याधिराज। उनके पुत्र थे शिवगुरु। शिवगुरु को आठ वर्ष की आयु में अध्ययन के लिए गुरुकुल भेज दिया गया। जहाँ उन्होंने षडांगों सहित कृष्ण यजुर्वेद का अध्ययन किया । उसके बाद मीमांसाशास्त्र का अध्ययन कर वे बीस वर्ष की आयु में घर लौट आए।

कालड़ी गाँव से दस-बारह घण्टे पैदल रास्ते पर वेलियाड नाम का एक गाँव था जहाँ मघपण्डित नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् रहते थे। उनकी सती नामक एक पुत्री थी जिसका विवाह के पश्चात् नाम आर्याम्बा हुआ। कन्या के तेरह वर्ष की होने पर बहुत से विद्वान् ब्राह्मण अपने सुयोग्य पुत्रों के लिए उसका हाथ माँगने के लिए आगे आए। मघपण्डित ने उनमें से शिवगुरु का चयन किया। दोनों ही परिवार सम्पन्न थे और विवाह बड़ी धूम-धाम से किया गया।

शिवगुरु अपने घर में ही गुरुकुल चलाने लगे। लगभग दस छात्र उनके यहाँ अध्ययन करते थे और घर वैदिक मन्त्रों से गूँजता रहता था। दैनिक पाठ के बाद बालक आपस में खेलते-कूदते और शरारतें करते। उनकी भोली-भाली हरकतों को देखकर गुरुजी और उनकी पत्नी सदैव प्रसन्न ही होते थे कभी खीजते नहीं थे। इस प्रकार अनेक वर्ष बीत गये।

विवाह के छब्बीस वर्ष बाद भी जब उन्हें कोई सन्तान नहीं हुई तो दम्पत्ति को बड़ी निराशा हुई। उन्होंने एक व्रत करने का निश्चय किया। वृषभाद्रि स्थित वृषभाचलेश्वर मन्दिर में दो महीने सेवा करने का उन्होंने

संकल्प लिया। व्रत उत्तरायण में पौष मास के शुक्ल पक्ष के प्रदोष से शुरू होकर फाल्गुन मास शुक्ल पक्ष के प्रदोष पर समाप्त होना था। जब तक वे वहाँ रहे वे पूजा और जप में संलग्न रहे और विविध व्यंजनों से अतिथियों का सत्कार करते रहे। बीच में माघ मास की शिवरात्रि को उन्होंने जागरण किया। अगले दिन पारण हुआ। उपवास समाप्त करके भोजन ग्रहण किया गया। उस रात गाढ़ निद्रा का आना स्वाभाविक था। मध्यरात्रि में एक वृद्ध सज्जन ने उनका द्वार खटखटाया और शरण माँगी। उस देर समय में भी आर्याम्बा ने भोजन बनाकर अतिथि को तृप्त किया। अगले दिन उनकी सेवा से अत्यन्त सन्तुष्ट उस वृद्ध सज्जन ने विदा ली और उन्हें व्रत की सफलता का आशीर्वाद दिया। व्रत समाप्त होने पर दम्पत्ति कालड़ी लौट आए।

वृषभाचलेश्वर की अर्चना का फल सुखदायक होना स्वाभाविक ही है। भगवान् की कृपा हुई और आर्याम्बा गर्भवती हुई। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के अनुसार गर्भ की अनुभूति होते ही पुंसवन संस्कार करना चाहिए। यह संस्कार भ्रूण की रक्षा करता है और माता का मनोबल बढ़ाता है। स्वाधिष्ठान और आज्ञा चक्रों को दर्शाती रंगोलियों के ऊपर कलश स्थापित किया गया। दो छोटी कन्याओं ने बरगद के फल और धान को दूध में पीस कर एक मिश्रण तैयार किया। इसे माता के दायीं नासिका से साँस लेते समय उसमें डाला गया। इससे सुनिश्चित होता है कि होने वाला शिशु पुत्र ही होगा। आगे मार्गशीर्ष के महीने में सीमंतोनयन संस्कार सम्पन्न हुआ और एक हवन का भी आयोजन किया गया। धान के अंकुर, जंगली सुअर के काँटे और सुगन्धित जड़ी-बूटियों को मन्त्रों से विशुद्ध किया गया। पत्नी पूर्वाभिमुख होकर बैठी और पति ने मन्त्राभिषिक्त जंगली सूअर के काँटे को धीरे से पत्नी की मांग से पीछे जाते हुए गर्दन के नीचे ले जाकर पिछली तरफ डाल दिया। तत्पश्चात् श्रीराग में सोम मन्त्र गाया गया और एक सौभाग्यवती महिला ने उस पर वीणा वादन किया। अन्त में, ब्राह्मण-भोज के बाद, बन्धु-बान्धवों को भी स्वादिष्ट भोजन से तृप्त किया गया।

अब आर्याम्बा में दो हृदय थे। बढ़ते हुए बच्चे की कामना के अनुसार, माताओं को भी इस समय अत्यधिक लालसाओं की अनुभूति होती है। परन्तु आर्याम्बा में कोई इच्छाओं का उदय नहीं हुआ। गर्भस्थ शिशु की रक्षा के

लिए उसे अत्यन्त संयम से रहना पड़ता। नदी में नहाते हुए सिर को जल में डुबकी लगाना, तकिए के बिना सोना या किसी तरह का व्यायाम करना, ये सब उसके लिए निषिद्ध थे। इसके सिवा सीढ़ी चढ़ना और बाल खुले रखना भी प्रतिषिद्ध थे परन्तु स्नान के तुरन्त बाद सुखाने के लिए वह कुछ देर तक बालों को खुला रख सकती थी। एक दिन नदी में स्नान करके और मन्दिर में श्रीकृष्ण की पूजा करके आर्याम्बा माँगलिक द्रव्यों को लेकर जब घर लौटी तो ऊपर से नीचे तक उसकी कान्ति का अवलोकन कर शिवगुरु से रहा नहीं गया और वे बोले, "आर्या! तुम्हारे मुखमण्डल की कान्ति को देखकर ऐसा लगता है जैसे कोई अत्यन्त तेजस्वी बालक तुम्हारे गर्भ में बढ़ रहा है।" आर्याम्बा यह सुनकर शरमा गयी।

वैशाख मास के शुक्लपक्ष की पंचमी को आर्याम्बा को प्रसववेदना अनुभव हुई। शिवगुरु ने जातकर्म संस्कार का प्रबन्ध किया। यह संस्कार प्रसूतिगृह में ही सम्पन्न किया जाता है। आर्याम्बा की पीठ सहलाते हुये वे मधुर वाणी में बोले, "यह प्रसव सुखपूर्वक और सुगमता से सम्पन्न हो", ऐसा कहते हुए उसे सूतिका गृह की ओर ले चले। उन्होंने 'मा त्वं विकेशी उर आवधिष्ठा' इस मन्त्र का उच्चारण किया। प्रसव के पश्चात् नालछेदन से पूर्व शिवगुरु ने 'वात्सप्र' मन्त्र का उच्चारण किया। गर्भ में अशुद्ध स्त्रावों को पीने से उत्पन्न दोषों के निवारण के लिये, और बौद्धिक विकास के लिए नवजात शिशु को थोड़ा-सा घृतमिश्रित-मधु चटवाया गया। उसके बाद माँ ने शिशु को अपने दाहिने स्तन से दुग्धपान कराया।

पुत्र के जन्म के तीन दिन बाद आर्याम्बा ने शिवगुरु से पूछा, "बच्चे की जन्मपत्री कैसी है?" शिवगुरु केवल "सब ठीक है" इतना कह कर मौन हो गये।

ग्यारहवें दिन पूर्णिमा थी। उस दिन नामकरण संस्कार होना था। माता-पिता और शिशु का विधिवत् स्नान हुआ। चर्चा बालक के नाम की तरफ मुड़ गयी। शिवगुरु ने आर्याम्बा से नाम रखने को कहा। आर्याम्बा ने इस कार्य का दायित्व वापिस अपने पति पर ही डाल दिया और अन्त में शिवगुरु ने ही निश्चय किया, "यह पुत्र हमें भगवान् शिव के कृपा प्रसाद से

मिला है। हम अत्यन्त धन्य हैं। 'शं करोति इति शंकरः' भगवान् शंकर ही मंगलकारी हैं। क्यों न हम इसका नाम शंकर ही रखें? आर्याम्बा ने सहर्ष उत्तर दिया, "आपने तो मेरे हृदय की बात कह दी।"

शिवगुरु ने इष्ट देवता की पूजा की और चाँदी की थाली में चावल फैलाकर उस पर हल्दी से 'शंकर शर्मा' नाम लिखकर उपस्थित ब्राह्मणों से उसका स्पर्श कराया। फिर ब्राह्मणों ने बालक को गोद में लेकर उसकी कमर में धागा बाँधा और उसके कान में तीन बार कहा "तुम्हारा नाम शंकर शर्मा है।" इसके बाद स्वस्तिवचन "स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु" कहा गया, जिसके उत्तर में ब्राह्मणों ने "स्वस्त्यस्तु" कहा। उसके पश्चात् ब्राह्मणों के लिए एक वैभवशाली भोज का आयोजन किया गया। भोज के बाद ब्राह्मणों को पर्याप्त दान-दक्षिणा से सन्तुष्ट किया गया। शिशु को झूले में रखा गया और उसकी आयु और आरोग्य के लिए प्रार्थना की गयी।

इसके कुछ दिन बाद, विधिपूर्वक शिशु को अन्नाहार देना आरंभ करना था। इसके लिए अन्नप्राशन संस्कार सम्पन्न किया गया। सौभाग्यवती महिलाओं ने मणिपूर चक्र के समान रंगोली बनाई और उसके ऊपर कलश स्थापित किया। शिवगुरु पंचयज्ञों को समाप्त करके पत्नी और पुत्र सहित लकड़ी की चौकी पर बैठ गए। उन्होंने उपस्थित ब्राह्मणों को "नमस्सदसे। नमस्सदसस्पतये। नमस्सखीनां पुरोगाणां चक्षुषे........" इस मन्त्र से सम्बोधित किया और फिर दम्पत्ति ने उठकर सभा को प्रणाम किया। गणपतिपूजा, पुण्याहवाचन, नान्दीमुख, अभ्युदयश्राद्ध आदि सभी कर्म विधि-पूर्वक सम्पन्न किए गये। शिवगुरु ने व्याहृतियों का पाठ किया और यज्ञशिष्ट खीर का प्रोक्षण करके शिशु को खिलाया। बाद में आर्याम्बा ने भी खीर का प्रसाद पाया।

अन्य शिशुओं की अपेक्षा शंकर एक महीने का होने से पहले ही घुटनों के बल चलने लगा। यह देखकर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वे उसको गोद में उठाकर दुलारने के लिए लालायित रहते थे। परन्तु कोई ऐसा न कर पाता, अपने बाल-सुलभ लचीलेपन से वह उनके हाथों से निकलकर तुरन्त पृथ्वी पर आ जाता । किशोरियां तो उसके इस व्यवहार से रुष्ट हो "तुम बहुत शैतान हो" कहकर हाथ मटकाती हुई वहाँ से चली जातीं।

एक वर्ष का होते–होते तो शंकर अपनी मातृभाषा में खूब बात करने लगा। एक दिन माता–पिता और बालक घर में अकेले थे। शिवगुरु ने प्रेम से पुत्र का आलिंगन किया और उसका सिर चूमते हुये पूछा, "बताओं मैं कौन हूँ?" बालक ने उत्तर दिया, "किसके?"। पिता ने वापिस पूछा, "इससे तुम्हारा क्या मतलब है?" पुत्र ने कहा, "ऐसा नहीं, माता के आप पति हैं और मेरे पिता हैं। इसलिए मैंने पूछा।" "देखो यह बदमाश कैसे बात करता है।" फिर माँ ने पूछा, "तुम मेरे क्या हो?" बिना आँख झपकाए शंकर ने उत्तर दिया, "बेटा"। आर्याम्बा ने शिशु को अंक में भरकर प्रेम से स्तनपान कराया।

एक दिन बालक शंकर क्रीडा करते हुए आँगन के दो दरवाजों में से बारी बारी से निकलकर कमरे में आ रहा था। यह देखकर पिता ने पूछा, "तुम क्या ढूंढ रहे हो?" पुत्र ने उत्तर दिया, "कुछ भी तो नहीं"। "तो फिर तुम एक–एक करके दोनों दरवाजों में से क्यों आ रहे हो?" "मैंने देखा कि कमरे में आने के दो द्वार हैं। मैं यह जानने का प्रयत्न कर रहा था कि इनमें से कौन सा रास्ता छोटा और सुगम है।" ज्योतिषशास्त्र को जानने वाले उसके पिता इस उत्तर से संतुष्ट होने की बजाए उदास ही हुये।

बच्चे को देखने के लिए आने वाले व्यक्ति साथ में गेंद या खिलौने के रूप में कोई न कोई उपहार लेकर आते। शंकर उसे हाथ में लेकर बहुत देर तक देखता रहता, फिर उसे सूंघता, चाटता और दबाता। अन्त में उसे बार–बार धरती पर पटककर फेंक देता। फिर दुबारा उसकी ओर देखता भी नहीं। एक दिन यह देखकर माँ ने पूछा, "बेटा, तुमने उसे फेंक क्यों दिया?" शंकर ने उत्तर दिया, "मैंने उसका रूप, रंग, स्वाद, और गन्ध देखी। फिर दबा कर देखा कि वह कठिन है या नर्म है। धरती पर मारकर उसका शब्द सुना। इसके पश्चात् उसमें जानने के लिए और कुछ नहीं रह गया था, इसलिए मैंने उसे फेंक दिया।"

इस उत्तर से माँ प्रसन्न नहीं अपितु उदास ही हुई।

× × ×

स्मृति के अनुसार 'संवत्सरे तु चौलेन आयुष्यं ब्रह्मवर्चसम्' – एक

वर्ष की आयु में चूड़ाकर्म कराने पर पुत्र की आयु और ब्रह्मवर्चस बढ़ता है। इसलिए बालक के प्रथम वर्ष में प्रवेश करते-करते ही शिवगुरु ने उसका चूड़ाकर्म संस्कार कराने का निश्चय किया। एक शुभ दिन देखकर पहले पिता, माता और पुत्र ने तेल का अभ्यंग कर स्नान किया। नित्यकर्म से निवृत्त हो शिवगुरु पीठ पर आसीन हुए और पुण्याहवाचन, नान्दीमुख, अभ्युदयश्राद्ध सम्पन्न किए गये। माता और पुत्र पूर्वाभिमुख होकर बैठे। अग्नि स्थापित की गयी। एक कटोरे में गर्म और एक में ठण्डा जल भरकर रखा गया। इसके अतिरिक्त धान, बैल का गोबर, तलवार, चाकू, सूअर का कांटा, दूर्वा तथा नानाविध सुगन्धित द्रव्य रखे गये। माता के सामने पत्ते पर शक्कर, फल, दूध, घृत, पके चावल, आदि रखे गये। हवन के पश्चात् गर्म तथा ठण्डे जल को मिलाकर उससे बालक के बाल अच्छी तरह भिगोये गये। फिर शिखा छोड़कर उन्हें कटवा दिया गया। एक ब्रह्मचारी ने नीचे गिरे बाल उठाकर किसी वृक्ष की जड़ में डाल दिए। तत्पश्चात् बालक की आरती उतारी गयी। अंत में अक्षराभ्यास के लिए एक थाली में चावल रखकर गणेश, विष्णु और सरस्वती का आह्वान एवं पूजन किया गया। फिर हल्दी की एक गांठ से 'ऊँ नमो नारायणाय', 'ऊँ नमः शिवाय' इन मन्त्रों को बालक के हाथ से तीन-तीन बार लिखवाया गया, साथ-साथ उससे इनका उच्चारण भी कराया गया। फिर ब्राह्मणों और सुहागिनों को भोजन कराया गया।

× × ×

गाँव के बाहर एक विशाल वट वृक्ष था। एक दिन दूर्वा संग्रह करने आए पिता-पुत्र उसके नीचे बैठे थे। शंकर ने प्रश्न पूछा, "पिताजी! यह पृथ्वी, सूर्य और चन्द्र कब से हैं?"

"करोड़ों वर्षों से" पिता ने उत्तर दिया।

"ये अस्तित्व में कैसे आए?"

"देखो बेटा! हम अन्न से पैदा हुए, अन्न पौधों से आता है, पौधे पृथ्वी से, पृथ्वी जल से, जल अग्नि से, अग्नि वायु से और वायु आकाश से उत्पन्न हुई है।"

"और आकाश किससे उत्पन्न हुआ है?" पुत्र ने पूछा,

"भगवान् से"

"भगवान् ने किससे जन्म लिया?"

"भगवान् न जन्म लेते हैं, न मरते हैं; वह सदैव रहते हैं।"

"वह कहाँ रहते हैं?"

"सर्वत्र रहते हैं।"

"फिर दिखायी क्यों नहीं देते?"

"देखो बेटा! आकाश वायु से सूक्ष्म है। जब आकाश ही नहीं दिखाई देता तो भगवान् कैसे दिखाई दे सकते हैं?"

"अगर ऐसा है तो हम कैसे कह सकते हैं कि उनका अस्तित्व है?"

"यह सब कुछ उन्हीं से आया है, इसलिए, उन्हें होना ही है। कैसे, यह मैं तुम्हें समझाता हूँ। जाओ और इस बरगद का एक फल उठा लाओ।"

शंकर फल उठाकर अपने पिता के पास ले आए।

"इसको तोड़ दो" पिता ने कहा।

शंकर ने उसके दो टुकड़े कर दिए।

"बेटा! इसके अन्दर क्या है।"

"बीज"

"एक बीज तोड़कर देखो उसमें क्या है।"

"कुछ नहीं"

"अगर उसके भीतर कुछ नहीं है तो उसमें से बरगद का पेड़ कैसे आ सकता है? बीज में कोई न कोई शक्ति अवश्य होनी चाहिए जिससे वृक्ष उत्पन्न हो पाए। परन्तु वह दिखाई नहीं देती। इसी प्रकार, भगवान् में यह सब कुछ सृष्टि करने की शक्ति है परन्तु वह दिखाई नहीं देता।"

"अगर वह दिखाई नहीं देता तो उससे हमें क्या लाभ है?"

"भगवान् को देख सकते हैं, परंतु देखना अत्यन्त कठिन है, ऐसा विद्वान् कहते हैं," पिता ने उत्तर दिया।

× × ×

एक और दिन माली कुछ कटहल एक टोकरी में देकर गया। शंकर को एक कोने में खाली बैठे देख माँ ने उससे कहा, "बेटा जरा यह कटहल गिनना कितनी हैं, मैं इतने नदी तक होकर आती हूँ।" लौटने पर माँ ने पूछा, "शंकर कितनी हैं?"

शंकर ने उत्तर दिया, "एक"।

"बेटा! मैंने तुम्हें टोकरी गिनने के लिए नहीं बल्कि उसमें कितने फल हैं यह गिनने के लिए कहा था।"

"माँ! मैं फल की ही बात कर रहा हूँ।"

"टोकरी पूरी भरी हुई। फिर यह कहने का क्या मतलब कि एक ही है?"

"माँ मैं निकालता हूँ और आप गिनो, या आप निकालो और मैं गिनता हूँ।"

"शंकर, तुम ही निकालो, मैं गिनूँगी। शंकर ने अपने नन्हें नन्हें हाथों से एक फल निकाला। माता ने कहा 'एक' और उसे अलग रख दिया। फिर शंकर ने एक और फल निकाला, माँ ने कहा। 'दो'। 'नहीं, माँ, यह दो नहीं है। अभी तो आपने कहा कि 'एक' है।"

"जो मैंने 'एक' कहा था वह उस फल के लिए कहा था। यह दूसरा है।"

"माँ! दोनों में क्या अन्तर है?"

माँ असमंजस में पड़ गयी और विचारने लगी कि अब क्या किया जाए। उन्होंने एक साथ दो फल उठाए और शंकर के हाथ में रखकर बोली "दो"। शंकर की आँखे प्रसन्नता से खिल उठीं। उसने उन फलों को एक ओर रख दिया और स्वयं दो और फल उठाकर माँ की ओर उत्सुकतापूर्वक देखा। माता ने कहा "चार"। "नहीं माँ चार नहीं, अभी तो आपने बताया था 'दो'।" शंकर बोला।

माता हतप्रभ रह गयी। उन्हें समझ नहीं आया कि वह उससे क्या कहें। वे केवल उसके कोमल गालों को खींच कर और प्यार से यह झिड़की देकर कि "कि तू बहुत नटखट है", वहाँ से चली गई। रात्रि में शंकर के सोने के

बाद आर्याम्बा ने अपने पति से पूछा, "दोपहर को जो हुआ आपने भी देखा। क्या आप बता सकते हैं कि मुझे शंकर को क्या उत्तर देना चाहिए था?"

"मैं भी नहीं जानता। वह जब बड़ा हो जाएगा तब उसी से पूछेंगे।"

× × ×

गुरुकुल में विद्यार्थियों के साथ रहते हुए शंकर ने तीन वर्ष की आयु में ही संस्कृत में भली-भांति बोलना शुरू कर दिया। दुर्भाग्य से शिवगुरु ने पचासवें वर्ष में ही अस्वस्थता के कारण खाट पकड़ ली थी। पत्नी तथा शिष्यों ने उनकी बहुत सेवा की परन्तु वे बचे नहीं।

दक्षिणाग्र पर फैलायी गयी लम्बी दूर्वा पर शव को दक्षिणमुख करके रखा गया। देहान्त से एक वर्ष पूर्व ही शिवगुरु ने श्रौताग्नि को आत्मसात करके केवल औपासनाग्नि बचा रखी थी। सगोत्रीय बन्धु अन्तिम संस्कार के लिए आगे आए। उन्होंने "आयुषः प्राणग्न सन्तनु। प्राणादपानग्न सन्तनु।... ..." इन मन्त्रों का मृतक के कान में उच्चारण किया। औपासनाग्नि को एक घट में स्थापित किया गया। दो बैलों से जुती गाड़ी में शिवगुरु के शव को श्मशान भूमि ले जाया गया। शंकर विद्यार्थियों के साथ घर पर ही रहा । संस्कार के बाद सभी नदी में स्नान करके घर लौट गये।

शंकर ने अपने नाना मघपण्डित से पूछा, "मेरे सोते हुये पिता को कहाँ ले गये?"

"शंकर! वह ऊँचे लोकों में चले गये हैं।"

"वे कब लौटेंगे?"

"वे वापिस नहीं आ सकते बेटा।"

यह सुनकर शंकर गहरी सोच में पड़ गया।

× × ×

अपने दामाद की मृत्यु का समाचार सुनकर आये मघपण्डित बेटी को सान्त्वना देने के लिये रुके रहे। शोकग्रस्त आर्याम्बा कई दिन तक मूक रही। एक दिन मघपण्डित ने उसे शोक से उबारने के लिये शंकर का उपनयन कराने का प्रस्ताव रखा, "बेटी! घर में जो गुरुकुल चल रहा था वह बन्द हो

गया है। वेदपाठ भी नहीं हो रहा है। मन एकदम निरुत्साहित है। क्या मैं एक बात कह सकता हूँ?"

"हाँ पिताजी कहिये।"

"पुत्र का उपनयन कराने से तुम्हें सन्तुष्टि मिलेगी। संस्कृत तो वह धारा-प्रवाह बोलता ही है और उच्चारण भी बिल्कुल स्पष्ट है। मेधावी बालक का तृतीय वर्ष में भी उपनयन किया जा सकता है। आपस्तम्ब के अनुसार, 'गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयीत् गर्भैकादशेषु राजन्यः गर्भद्वादशेषु वैश्यः'। शंकर को सन्ध्यावन्दन तथा अग्निकार्य करते देख मन को बड़ा सन्तोष होगा। अतः उसका उपनयन करा लेना चाहिये।"

आर्याम्बा की एक समस्या थी, "उपनयन के बाद आप तो यहाँ से चले जायेंगे। बाद में शंकर मुझसे सौ तरह के प्रश्न पूछेगा– उपनयन संस्कार क्यों करना चाहिये?

उपनयन के बाद क्या करना होता है?

किसलिये करना होता है? इन सब का उत्तर मुझे बताइये जिससे मैं उसकी जिज्ञासा शान्त कर सकूं"।

मघपण्डित ने कहा बताता हूँ सुनो, "गर्भस्थ शिशु में दूसरे महीने में प्राणसंचार आरंभ हो जाता है। लगभग पांचवें महीने में ज्ञानेन्द्रियाँ विकसित होने लगती हैं और मन और बुद्धि भी कार्य करने लगते हैं। उस समय उसे अपने पूर्वजन्मों की स्मृति रहती है। जन्म होने पर वह स्मृति नष्ट हो जाती है। जन्म के समय मन और बुद्धि सुषुप्त अवस्था में होते हैं और धीरे-धीरे कार्यशील होते हैं। मन संकल्प-विकल्पात्मक होता है। जन्म के पश्चात् ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है शिशु ज्ञानेन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध द्वारा वस्तुओं का परीक्षण करके उन्हें पहचानने लगता है। इसके साथ उसके मन का भी विकास होता रहता है। साधारणतया यह विकास छह वर्ष की आयु तक होता है और उसके बाद रुक जाता है। अब तक बुद्धि विकसित होनी शुरू नहीं हुयी होती है।"

"यह हम कैसे कह सकते हैं?"

"बुद्धि अच्छे-बुरे का निर्णय करने वाली होती है। उसकी अनुपस्थिति

में एक बालक नंगा होने पर भी लज्जा का अनुभव नहीं करता है। वह बिना कारण ही रोता–हँसता है। जब बुद्धि विकसित होनी प्रारंभ होती है तो धीर–धीरे उसके व्यवहार में भी परिवर्तन आना शुरू हो जाता है। उसे लज्जा आने लगती है, बिना कारण रोना–हंसना बन्द हो जाता है। शंकर को देखो। केवल तीन वर्ष का होने पर भी वह कौपीन के बिना नहीं घूमता है। कभी भी अकारण हँसता या रोता नहीं है। तुम्हारा पुत्र अत्यन्त विलक्षण है। उसका उपनयन अभी कराना उपयुक्त है। यह शास्त्रसम्मत भी है। बेटी! जो चित्त है वह स्मरणशक्ति का केन्द्र होता है। उसका विकास छह–आठ साल की आयु के बाद प्रारंभ होता है। बालक को गुरुकुल भेजने का यही समय होता है।"

"उपनयन के बाद सूर्योपासना क्यों की जाती है?" आर्याम्बा ने पूछा।

"बुद्धि का प्रचोदन करने वाला सूर्य ही होता है। उदाहरण के तौर पर मन्दबुद्धि लोग ग्रहणकाल में अधिक उन्मत्त हो जाते हैं क्योंकि उस समय सूर्य की शक्ति न्यून होती है। इससे सिद्ध होता है कि बुद्धि का प्रचोदनकर्ता सूर्य ही है। इसलिये, जब बुद्धि का विकास आरम्भ होता है तभी सूर्य की भी उपासना प्रारंभ करनी चाहिये।"

उपनयन के लिये पुत्री की स्वीकृति प्राप्त होने पर मघपण्डित ने संस्कार के लिये एक शुभ दिन सुनिश्चित कर दिया।

उससे एक दिन पूर्व अभ्यंजन स्नान कराया गया। अभ्यंजन स्नान का अर्थ है सिर में तेल लगाकर स्नान करना। उसी दिन उदक शान्ति, गणपति पूजा, कुम्भ तीर्थ का सम्प्रेक्षण, प्राशन, नान्दी श्राद्ध तथा भोजन, ये सब कार्य भी सम्पन्न किये गये।

सपत्नीक मघपण्डित ने ही दौहित्र के उपनयन का संकल्प किया। अगले दिन फिर अभ्यंजन स्नान हुआ। ब्रह्मचारी की वाक्शक्ति एवं बुद्धिबल के अनुग्राहक विशुद्ध और आज्ञा चक्र के देवता हैं। सुमंगलियों ने रंगोलियों में विशुद्ध और आज्ञा चक्र बनाये और उनके ऊपर कलश स्थापना की गयी। तदनन्तर वटुक का मुण्डन और स्नान हुआ और उसे कषाय धोती पहनायी गयी। उसके बाद मौंजी बन्धन और कृष्णाजिनधारण हुआ। तत्पश्चात् देवताओं को हवि अर्पण करके वटु को गायत्री मंत्र का उपदेश दिया गया। फिर

समिधाधान करके 'रक्षा' धारण कराके 'आत्रेयार्चनानसश्यावाश्वेत्यार्षेय-प्रवरन्वितात्रेयसगोत्रः आपस्तम्बसूत्रः यजुश्शाखाध्यायी शङ्करशर्माहं भोः अभिवादये' ऐसा कहकर बटुक ने यज्ञेश्वर को नमस्कार किया। ब्रह्मतेज से प्रदीप्त शंकर को वहाँ उपस्थित जनसमूह एकटक देखता रह गया। नेत्र खुले होने पर भी शंकर की दृष्टि अन्तर्मुखी थी। भिक्षादान के लिये खड़ी स्त्रियों को शंकर उस समय साक्षात् वामन की याद दिला रहे थे। उनमें से कुछ के नेत्रों में प्रेमाश्रु छलक आए और कुछ तो भिक्षा को भूलकर वटु को नमस्कार करने लगीं। रात्रि में आर्याम्बा ने इतनी दृष्टियाँ पड़ने के कारण शंकर की नजर उतारी।

अगले दिन मघपण्डित ने शंकर को सन्ध्यावन्दन की प्रक्रिया और गायत्रीजप का महत्व समझाया "किसी भी मन्त्र के जप से पहले उस मन्त्र के ऋषि, देवता और छन्द का स्मरण आवश्यक है। गायत्रीमन्त्र के ऋषि विश्वामित्र हैं, देवता सूर्य है और छन्द निचृद्गायत्री है। विश्वामित्र उन सप्तर्षियों में एक हैं जिन्होंने इस वैवस्वत मन्वन्तर के आदि में जन्म लिया था। वे ब्रह्माजी के मानस पुत्र थे। पिछले जन्म में ये कौशिक थे जहाँ उन्होंने कठिन तपस्या से भगवान् का अनुग्रह प्राप्त किया जिसके कारण उन्हें इस जन्म में गायत्रीमन्त्र की स्मृति प्राप्त हुयी। सूर्य देवता हमारी बुद्धि के प्रेरक हैं। नः धियः यः प्रचोदयात् तद्वरेण्यं सवितुः तद्देवस्य भर्गः धीमहि- उस देव के तेज का हम ध्यान करते हैं- यह इस मन्त्र का अर्थ है। इस मन्त्र का छन्द गायत्री है और यह अपने छन्द के नाम से ही विख्यात है। इस मन्त्र के तीन पाद, अर्थात् पंक्ति हैं। एक पाद में आठ अक्षर होते हैं। किन्तु प्रथम पंक्ति के 'तत्सवितुर्वरेण्यं' में केवल सात अक्षर हैं, इसलिये इसे 'निश्चद्गायत्री' छन्द कहते हैं। इस मन्त्र की उपासना का अर्थ है मन को तैलाधारावत् सूर्य की ओर प्रवाहित करना और अपने चंचल मन को अन्यत्र कहीं और जाने से रोककर सूर्यदेव में प्रतिष्ठित करना। तुम समझ गये न शंकर!

"हाँ मैं समझ गया। परन्तु सूर्य की बुद्धि को प्रेरणा देने वाला कौन है?"

"वह परमात्मा ही हैं परन्तु वे सूर्य के समान प्रत्यक्ष नहीं होते। इसलिये प्रत्यक्ष सूर्य के ध्यान से आरंभ करके उस परमात्मा में ही मन लगाना है।"

"उस परमात्मा का स्थान क्या है?"

"हृदय ही उसका स्थान है।"

"मन्त्र में 'नः धियः और 'धीमहि' बहुवचन में हैं।' इसका क्या अर्थ है?"

"ये शब्द ब्राह्मणों के सामूहिक दायित्व को दर्शाते हैं। ब्राह्मणों का जीवन दूसरों के धन से चलता है। यह वह धन है जो अध्यापन और याजन के लिये दक्षिणा रूप में उन्हें दिया जाता है। परन्तु ब्राह्मण का ऋण केवल अध्यापन और याजन से ही नहीं उतर जाता। उसे समाज को और भी बहुत कुछ देना होता है। शास्त्र के अनुसार ब्राह्मण के तप का छठा भाग प्रजा को प्राप्त होता है। प्रजा का योगक्षेम इसी पर निर्भर करता है। इसलिये, गायत्रीजप हर ब्राह्मण का कर्तव्य है।"

"कल उपनयन संस्कार के पश्चात् जो मेरे द्वारा भिक्षा प्राप्त की गयी उसका क्या महत्व है?"

"तुम आगे जब विद्याग्रहण के लिये गुरुकुल जाओगे तब तुम्हें भिक्षा द्वारा ही जीवनयापन करना होगा।"

"ऐसा क्यों?"

"यदि सभी विद्यार्थी गुरुकुल में ही भोजन करें तो गुरु और उनकी पत्नी पर अत्यधिक बोझ पड़ जायेगा। यह सही नहीं है। अतः ब्रह्मचारी को भिक्षा के द्वारा ही अपना भोजन प्राप्त करना होता है। मधुमक्खी जिस प्रकार एक फूल से दूसरे फूल पर मधु इकट्ठी करती है उसी प्रकार घर-घर जाकर थोड़ा-थोड़ा आहार एकत्रित करना होता है। अतः इसे मधुकरी कहा जाता है। इससे ब्रह्मचारी में सब गृहणियों के प्रति मातृत्व की भावना जागृत होती है। केवल स्वाद के लिये भोजन करने की इच्छा का भी दमन होता है। समाज के प्रति कृतज्ञता का भाव उत्पन्न होता है और समाज को शिक्षा देकर इस ऋण से मुक्त होने की प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार पढ़ने-पढ़ाने की परम्परा अविच्छिन्न चलती रहती है।"

× × ×

अपने गाँव वेलियनाड लौटने पर भी मघपण्डित का अपनी पुत्री के यहाँ आना–जाना लगा रहता था। उनकी इच्छा थी कि अधिक से अधिक समय अपनी पुत्री और दौहित्र के साथ बितायें। एक दिन उन्होंने अपनी पुत्री से कहा: "शंकर अब पाँच वर्ष का हो गया है। उसको गुरुकुल भेजने का समय आ गया है। परन्तु वेलियनाड यहाँ से बहुत दूर है। तुम वहाँ उससे ज्यादा मिलने नहीं जा पाओगी। वह भी एक छोटा बालक ही है। अत:, पास के गाँव में नारायण दीक्षित के गुरुकुल में उसे भेजना अच्छा रहेगा। वहाँ तुम उसे अपनी इच्छानुसार मिलने जा सकोगी।"

आर्याम्बा सहर्ष अपने पिता की बात स्वीकार करते हुये शंकर को नारायण दीक्षित के गुरुकुल छोड़ आयी। यद्यपि सगे–सम्बन्धी आर्याम्बा के घर आते रहते थे, तो भी पुत्र की अनुपस्थिति में उसे घर खाली–खाली सा दिखता था। उधर गुरुकुल में शंकर अपने नाना की शिक्षानुसार जो जो सेवा बन पड़े करता था। वह ज्येष्ठ शिष्यों के साथ समिधा और दर्भ एकत्रित करने के लिये जाता था। जब वह भिक्षा के लिये जाता तो स्त्रियाँ उसे अत्यन्त स्नेह से भिक्षा देती थीं। शंकर अपनी लायी भिक्षा गुरुजी को समर्पित करता और उनकी आज्ञा होने पर ही भोजन करता। यदि कभी कोई विशेष भोजन मिलता तो उसे वह अपने सहपाठियों से मिलकर ही खाता। धीरे–धीरे उसे अपने नाना की बातों की सत्यता का अनुभव होने लगा; स्वादिष्ट भोजन की इच्छा कम होती गयी और समाज के प्रति कृतज्ञता उत्पन्न होती गयी। उसने दृढ़ निश्चय किया कि वह शास्त्र का अध्ययन करेगा और फिर उस अर्जित ज्ञान का समाज में वितरण कर अपना ऋण उतारेगा।

× × ×

एक दिन नारायण दीक्षित ने आर्याम्बा को गुरुकुल की ओर आते देखा। वह अपनी पत्नी से बोले "जरा माँ की ममता तो देखो। अभी शंकर को गुरुकुल में आये एक सप्ताह भी नहीं हुआ है और वह पुत्र की कमी इतना महसूस करने लगी है कि उससे मिलने गुरुकुल आ गई है।" गुरुकुल पहुँचकर आर्याम्बा ने गुरुपत्नी से पुत्र की कुशलता पूछी। उन्होंने बताया कि

अन्य सब बालकों के साथ शंकर समिधा लाने गया है और शीघ्र ही लौट आयेगा।

"तुम्हारा पुत्र अत्यन्त विलक्षण है। सब उससे अत्यधिक प्रेम करते हैं। वह बुद्धिमान्, विनयशील और आज्ञाकारी है। यद्यपि आपको बहुत समय तक सन्तान प्राप्ति नहीं हुयीं, आखिरकार आपको एक श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त हुआ।"

यह सुनकर आर्याम्बा की आँखों में आंसू भर आये।

"अरे! तुम रोती क्यों हो?"

"लगता है वह संन्यासी बनना चाहता है। कल रात सपने में मैंने उसे एक संन्यासी के रूप में देखा। इस स्वप्न से मुझे अत्यन्त दुःख पहुँचा, इसलिये मैं शंकर को देखने आ गयी।"

"अरे! ऐसा है क्या?"

"भगवान् के लिये शंकर को यह सब न बताना।"

"चिन्ता मत करो। मैं नहीं बताऊँगी।" इतने में शंकर लौट आया और माँ को देखकर प्रणाम किया। माता ने उसका मस्तक सूँघा और पूछा, "बेटा तुम कुशल हो न?"

"हाँ माँ मैं अच्छा हूँ।"

फिर माँ ने शंकर को खासतौर पर उसके लिये बनायी गयी कुछ खाद्य सामग्री दी। शंकर ने सबको बांटकर फिर खुद खाया।

शंकर कुशाग्र बुद्धि था। अपना पाठ करते समय ही दूसरों का भी पाठ सुनते हुये उसने शीघ्र ही अपनी वेद-शाखा का अध्ययन पूरा कर लिया। इसी प्रकार उसने एक ही वर्ष में षड् अंगों सहित चारों वेदों का पूर्णतया अध्ययन कर लिया। गुरुपत्नी ने एक दिन अपने पति से कहा, "आर्य! शंकर को और पढ़ाने की क्या आवश्यकता है? उसने सब कुछ तो सीख लिया है।"

"मैं उसको पढ़ाता हूँ अपने उद्धार के लिये, न कि उसको सिखाने के लिये", नारायणदीक्षित ने उत्तर दिया। सब विद्यार्थियों की भी शंकर के प्रति महान् प्रीति और गौरव का भाव था।

× × ×

एक दिन दोपहर को सब विद्यार्थी नदी में स्नान करके लौट रहे थे। एक बोला, "आज प्रातः लकड़ी काटने से शरीर पसीने के कारण असह्य हो रहा था। मिट्टी रगड़कर स्नान करने से शुद्ध हो गया। आनन्द आ गया।"

दूसरे ने इस पर प्रश्न किया, "मिट्टी रगड़कर नहाने से शरीर क्यों शुद्ध होता है?"

"मैं नहीं जानता।"

"शंकर क्या तुम बता सकते हो?"

"ऐसा इसलिये होता है क्योंकि मिट्टी कारण है और स्वेद कार्य है," शंकर ने उत्तर दिया।

"ऐसे समझाओ कि हम लोग सरलता से समझ सकें।"

"पिछले सप्ताह जो मन्त्र हमें सिखाया गया था वह याद है न–'पृथिव्या ओषधयः ओषधिभ्योऽन्नम् अन्नात् पुरुषः' इसके बाद क्या आता है, यह जानना चाहते हो, क्या?" शंकर ने हँसते हुये कहा।

"बताओ"।

"पुरुषात् पुरीषम्।"

सब इस पर खूब जोर से हंसे। शंकर ने अपनी बात जारी रखी; "भगवान् और हमारा भेद देखो। वह मल को फल बनाता है और हम फल को मल बनाते हैं। मल, मूत्र, स्वेद–ये सब पुरुष से उत्पन्न होते हैं। पुरुष पृथ्वी से आया है। क्या इससे स्पष्ट नहीं हो जाता कि सब मलिनता का मूल कारण मिट्टी ही है? उसमें न दुर्गन्ध होती है न सुगन्ध। इसलिये, विविध प्राणियों से जो दुर्गन्ध उत्पन्न होती है और फल–फूल आदि से जो सुगन्ध उत्पन्न होती है, भूमि पर गिरने के बाद दोनों ही नष्ट हो जाती हैं, केवल एक गन्धरहित मिट्टी रह जाती है। इसलिये ही मिट्टी रगड़कर स्नान करने से शुद्धि हो जाती है।"

एक ने पूछा "अगर मिट्टी में ये नहीं हैं तो मिट्टी में से दुर्गन्ध और सुगन्ध क्यों आती हैं?"

शंकर ने उत्तर दिया "मिट्टी में अपने आप में कोई गन्ध नहीं होती।

परन्तु जब जल और ऊष्णता का उसमें मिश्रण होता है तब गन्ध उत्पन्न होती है। ये संगति का दोष है। अकेले में हम शान्त और गम्भीर होते हैं, परंतु जब आपस में मिलते हैं तो उपद्रव रचते हैं। मिट्टी के विषय में भी ऐसा ही है।

× × ×

एक दिन शंकर ने एक छोटे घर जाकर "भवति भिक्षां देहि" इस प्रकार भिक्षा के लिए आवाज लगायी। परन्तु कोई उत्तर नहीं मिला। दुबारा आवाज देने पर भी कोई नहीं आया। तीसरी बार में भीतर से एक स्त्री की आवाज आयी "ब्रह्मचारी! हमारे घर में कुछ नहीं है। हम बहुत निर्धन हैं।"

"आप जो भी देंगी मैं स्वीकार करूँगा" शंकर ने उत्तर दिया। भीतर से कुछ बातचीत की आवाज आयी। अन्त में एक स्त्री बाहर निकली। उसने एक सूखा आँवला शंकर के कटोरे में डालकर कहा, "लोग तुम्हें अच्छी-अच्छी वस्तुएँ देते होंगे। मेरे पास तो केवल इतना ही है। इसको स्वीकार करो।" ऐसा कहकर वह फूट-फूट कर रोने लगी। शंकर की आँख भर आयी। रात को सपने में उसे माँ लक्ष्मी के दर्शन हुये। उसने देवी से प्रार्थना की "माँ! उस स्त्री को समृद्धि दो।"

"यह कैसे हो सकता है शंकर! अपने पूर्व जन्मों में वह अत्यधिक धनवान थी परन्तु कभी कुछ भी दान नहीं दिया। उसको समृद्धि कैसे मिल सकती है? क्या तुम नहीं जानते कि मैं केवल पूर्व कर्मों के अनुसार ही फल देती हूँ?"

"माँ! इतने कष्ट में भी उसने मुझे आँवले का दान दिया ही है। कृपया उसे इसका फल दे दें।"

देवी "तथास्तु" कहकर अन्तर्ध्यान हो गयी। दान का फल दान किसको दिया गया है इस पर भी निर्भर करता है। जागने पर शंकर ने कनकधारा स्तोत्र की रचना की। शीघ्र ही उस स्त्री के सब कष्ट दूर हो गये। उस कुल के वंशज अब तक यह कथा सुनाते हैं। उस घर का नाम है:- 'स्वर्णत्तिल्लं'-स्वर्ण का घर।

× × ×

एक दिन गुरु ने कहा- "शंकर! अब तुम पुराण, रामायण तथा महाभारत

का स्वयं ही अध्ययन कर सकते हो। जहाँ सन्देह हो वहाँ मुझसे पूछ लेना।" उन्होंने शंकर को ग्रन्थों की एक पोटली सौंप दी। शंकर ने सबका गहन अध्ययन किया। उसे सन्देह की स्थिति कही भी नहीं आयी। शंकर को गुरुकुल में आये अभी डेढ़ साल भी नहीं हुआ था कि गुरु ने कहा,–"शंकर! यहाँ जितनी पढ़ाई हो सकती थी तुमने कर ली। अब तुम्हें मीमांसाशास्त्र का अध्ययन करना है, परन्तु उसे पढ़ाने वाला कोई गुरुकुल निकट नहीं है। उसके लिये तुम्हें दूर जाना पड़ेगा। तुम अभी छोटे हो, इतनी दूर जाना तुम्हारे लिये सम्भव नहीं होगा। तुम्हारी माँ भी तुम्हारी कमी बहुत महसूस करती हैं। अतः, अभी के लिये यही उचित है कि तुम घर चले जाओ और वहीं रहते हुये शिष्यों को पढ़ाओ।

उस दिन गुरुपत्नी ने किसी बालक को भिक्षा के लिये नहीं जाने दिया। घर में ही सबके लिये स्वादिष्ट भोजन एवं मिष्ठान्न बनाये गये। सात वर्षीय वह बालक जब जाने के लिये तैयार हुआ तो गुरु, गुरुपत्नी, उनके बच्चे और विद्यार्थी, सभी रोने लगे। गुरु और गुरुपत्नी को साष्टांग प्रणाम करके शंकर कालड़ी की ओर चल पड़ा।

× × ×

शंकर के लौटने पर आर्याम्बा को उतनी ही प्रसन्नता हुयी जितनी उसके पैदा होने पर हुयी थी। घर में ही गुरुकुल प्रारंभ किया गया। ये गुरुदक्षिणारहित गुरुकुल था। दिन पर दिन शंकर की कीर्ति चारों ओर फैलने लगी। जिज्ञासु उसको ढूंढते हुये दूर-दूर से आने लगे, घर में हमेशा लोगों का तांता लगा रहता। आर्याम्बा को कष्ट न हो इसलिये आगन्तुकजन स्वयं ही खान-पान आदि बनाते और रहने की व्यवस्था भी स्वयं कर लेते। केरल के राजा कुलशेखर वर्मा ने जब इस विलक्षण बालक के विषय में सुना तो उनके मन में उससे मिलने की तीव्र इच्छा जागृत हुयी। उन्होंने अपने मन्त्री को अनेक उपहारों के साथ भेजा और शंकर से अपनी राजसभा में आने के लिये कहा। मन्त्री ने शंकर को दक्षिणा, रेशमी धोती और फल समर्पित करके राजा की इच्छा जाहिर की। शंकर ने केवल फल ही रखे और बाकी उपहार वापिस करते हुये राजा की इच्छा पूरी करने में अपनी असमर्थता प्रकट की।

जब मन्त्री अकेले ही वापिस लौटा तो राजा को अपनी भूल का अहसास हुआ। अपनी भूल सुधारने के लिये उसने स्वयं शंकर के पास जाने का निश्चय किया। उसने अपना रथ कुछ दूर खड़ा किया और फिर घर तक पैदल ही गया। आर्याम्बा ने उनका उचित स्वागत किया। राजा शंकर को साष्टांग प्रणाम करके विनम्रता से बैठ गया और पूछा, "आपने मेरे द्वारा भेजी सामग्री स्वीकार नहीं की?"

शंकर ने स्पष्ट किया, "मैं एक ब्रह्मचारी हूँ। मेरे लिये कोई भी उपहार स्वीकार करना निषिद्ध है। आप वर्णाश्रम धर्म के रक्षक हैं। मैं आपसे ही उसका उल्लंघन कैसे करा सकता हूँ?"

राजा ने आदरपूर्वक उत्तर दिया, "भगवन्! आपके पिता नहीं हैं। उनकी अनुपस्थिति में और इतने अतिथियों के आने-जाने से कठिनाई होती होगी।"

"भगवान् की कृपा से और आपके सुशासन के कारण कोई कमी नहीं है।" शंकर ने कहा।

राजा ने अपने द्वारा रचित कुछ नाटक शंकर को दिखाये और उनकी समीक्षा करने के लिये कहा। तभी की तभी शंकर ने उनका अवलोकन किया और छोटे-छोटे व्याकरण के दोषों को ठीक करके कहा कि वे अच्छे लिखे गये हैं। राजा ने आगे कहा, "मेरी कोई सन्तान नहीं है, मुझ पर कृपा करें।"

शंकर ने उनको सन्तान के लिये करणीय कर्म का निर्देश दिया और फल देकर आशीर्वाद दिया। आर्याम्बा को अपने पुत्र पर अत्यन्त गर्व का अनुभव हुआ।

× × ×

एक दिन श्रीकृष्ण मन्दिर में पूजा के बाद आर्याम्बा कपड़े धोने नदी पर गयी। दोपहर का समय था, सूर्य अत्यन्त प्रखर था जिससे रेत भी तप गयी थी। लौटते समय उनका पैर फिसला और वह गिर पड़ी। देखने वाले दूर से ही जोर से चिल्लाये, "शंकर! तुम्हारी माता गिर गयी हैं।" शंकर उस ओर भागा। उसके साथ और विद्यार्थी बालक भी दौड़े। परन्तु माता को उठाना

उनमें से किसी के भी बसका नहीं था। शंकर ने रेत पर गीली साड़ियाँ बिछायीं और माँ को धीरे–धीरे उस पर चला कर घर ले आया। वह चिन्तित हो उठा "माँ को रोज कपड़े धोने के लिये नदी पर जाना पड़ता है। वह किसी और को यह काम नहीं करने देती है, मैं छोटा हूँ, इसलिये मुझे भी नहीं करने देती। मैं क्या करूँ?" परन्तु वह क्या कर सकता था? अगला दिन अपने साथ एक चमत्कार लेकर आया। पूर्णा नदी ने अपना घाट बदल दिया था और पास वाले घाट पर बह रही थी। कोई नहीं कह सकता कि किसी अदृष्ट शक्ति ने ऐसा किया था या संयोगवश हो गया था। परन्तु जल अब कृष्णमन्दिर तक आ पहुँचा था और संभावना थी कि वर्षाकाल में जल मन्दिर में प्रविष्ट हो जायेगा। शंकर ने स्थानांतरण करके विग्रह को एक ऊँचे स्थान पर प्रस्थापित कर दिया।

× × ×

"माँ! कोई आया है" एक छात्र ने ऊँची आवाज में पुकारा। शंकर घर पर नहीं था। वह पास के गाँव में गुरूजी को, जो कि अस्वस्थ थे, मिलने गया हुआ था। आर्याम्बा रसोई से बाहर आयी और आगन्तुकों को देखकर बोली, "आइए, आइए। बच्चों! सबके लिये आसन लाओ।" चारों अतिथि सुखपूर्वक आसनों पर बैठ गये।

"आप कौन हैं?"

"हम तिरुवन्तपुर में रहते हैं। ये दो न्यायशास्त्र के पण्डित हैं, ये ज्योतिषशास्त्र के ज्ञाता हैं और मैंने थोड़ा मीमांसा का अध्ययन किया है। हम वृषभाद्र में किसी के घर आये थे। आपके पुत्र के विषय में हमने बहुत सुना है उसी को देखने के लिये हम आये हैं। कहाँ है आपका पुत्र?"

"वह पास के गाँव में गुरु जी के दर्शन के लिये गया है। शीघ्र ही लौट आएगा। आप लोग बैठिए।" ऐसा कहकर आर्याम्बा ने गर्मी में आए अतिथियों को शीतल शर्बत पीने को दिया।

उनमें से जो ज्योतिषी था, उसे आर्याम्बा ने पुत्र की जन्मपत्री दिखायी। उन्होंने कुछ गणना करके कहा, "माता! यह एक असाधारण जन्मपत्री है। तुम्हारा पुत्र महान् विद्वान् बनेगा। इसके वाक्स्थान में बृहस्पति है। वह

नि:सन्देह लोकपूज्य होगा। आप महाभाग्यवान् हैं कि आपको ऐसा पुत्र प्राप्त हुआ है।"

"उसकी आयु और स्वास्थ्य कैसे रहेंगे?"

"उसका स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहेगा।"

"और आयु?"

बहुत देर तक ज्योतिषी पत्री का परिशीलन करता रहा और फिर बोला, "माँ! आठवें साल में एक कण्टक है। उसके बाद चिन्ता नहीं है।"

"वह उस विपदा से निकल तो जाएगा न?"

ज्योतिषी ने और भी विस्तृत गणना करके उत्तर दिया, "माँ! इसके द्वारा अनेक महान् कार्य सम्पन्न होने हैं। अत:, वह उस कष्ट से छूटेगा ही छूटेगा।"

"मुझे इस कष्ट के निवारण के लिये अगर कोई जप और पूजा करनी है तो बताइये?"

"माँ! उसे बचाने के लिये स्वयं देवता जप करेंगे। आप चिन्ता छोड़कर भगवान् पर विश्वास रखो।"

उसी समय शंकर लौट आया और ज्योतिषी की बातें उसके कानों में पड़ी। घर में प्रवेश करते ही उसने प्रवरपूर्वक अपना परिचय देते हुये ब्राह्मणों को प्रणाम किया। ब्राह्मणों ने प्रयत्न किया कि शंकर उनके पैर न छुए और उन्होंने पैर पीछे खींचे। बाद में शास्त्रचर्चा हुयी। अन्त में भोजन करके अपने को धन्य मानते हुये अतिथियों ने विदाई ली।

× × ×

आर्याम्बा के चेहरे पर उदासी छायी रहती। वह चिन्ता और दु:ख से घिरी हुयी थी। एकान्त में वह अश्रु बहाती परन्तु शंकर के सामने प्रसन्न रहने का प्रयत्न करती। माँ की मनोदशा शंकर से छुपी न रही। एक दिन उसने पूछा, "माँ! आपको क्या दु:ख और चिन्ता सता रही है, कृपया मुझे बतायें।"

"कुछ भी तो नहीं है।"

"माँ! क्यों छिपा रही हो। बताओ न"

वह चुप रही।

"माँ! यह शरीर नित्य नहीं है। पिताजी की मृत्यु से यह स्पष्ट है। पर क्या उनके निमित्त हम श्राद्धकर्म नहीं करते? वह हम किसके लिये कर रहे हैं? उनकी आत्मा के लिये ही। क्या इससे यह नहीं सिद्ध होता कि यद्यपि उन्होंने शरीर छोड़ दिया है पिताजी मरे नहीं हैं? शरीर मरता है, आत्मा नहीं। फिर तुम शोक क्यों करती हो?"

इन शब्दों को सुनते हुये आर्याम्बा केवल आँसू बहाती रही। दिन बीतते-बीतते वह और भी निरुत्साहित होती गयी। जीवन यन्त्रवत् चलता रहा। एक दिन अपनी माँ के पास बैठे हुये शंकर ने कहा, "माँ! मुझे आपसे कुछ पूछना है, पूछूँ?"

"पूछो बेटा।"

"ज्योतिषी के कथनानुसार अगर मेरे शरीर का अन्त हो जाता है तो न तो कोई पिता का श्राद्ध करने वाला रहेगा न मेरा श्राद्ध करने वाला। ऐसे तो कर्म का लोप हो जायेगा। आप जानती हैं कि यह अनुचित होगा।" माँ चुप रही।

"शास्त्रसम्मत एक उपाय है। अगर आप कहें तो बताऊँ।"

माँ फिर भी कुछ न बोली।

"आगे के सारे श्राद्धों को एक में समुचित करके अभी एक काल में ही सब किये जा सकते हैं। ऐसे कर्मलोप नहीं होगा।"

"इसका क्या अर्थ है?"

"इसका अर्थ यह है कि मुझे संन्यास लेना होगा, और वह आपकी अनुमति के बिना नहीं हो सकता।"

माँ फूट-फूट कर रोने लगी। यही उनका उत्तर था।

"माँ रोने से क्या लाभ है? सोच विचार कर आप मुझे बाद में बताना।"

उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया और उठकर अन्दर चली गयी। बीच-बीच में शंकर उनसे पूछता रहता परन्तु वह कोई उत्तर न देती। इस प्रकार दिन बीतते रहे।

एक दिन माँ ने शंकर से कहा, "मुझे स्नान के लिये नदी पर जाना है। धोने के बाद गीले कपड़े मेरे से नहीं उठते, तुम मेरे साथ चलो और वापसी में उन्हें उठा लेना। मैं यह काम किसी और से नहीं कराना चाहती।"

कपड़ों की पोटली लेकर शंकर माँ के पीछे-पीछे चला। कुछ शिष्य भी साथ हो लिये। नदी पर बहुत लोग थे। बालक पानी में डुबकी मारकर तैर रहे थे। बड़े स्नान करके अनुष्ठान कर रहे थे। एक तरफ धोबी मिलकर कपड़े धो रहे थे। दूसरे तट पर मछुआरे मछली पकड़ रहे थे। इधर आर्याम्बा साड़ी धोकर निचोड़ रही थी। तभी अचानक बहुत जोर से शंकर की आवाज आयी, "माँ! माँ! सब लोग अपने-अपने काम छोड़कर उधर ही देखने लगे। शंकर अभी भी चिल्ला रहा था "माँ! एक मगरमच्छ ने मेरी टाँग पकड़ ली है। जल्दी से मुझे संन्यास की अनुमति दे दो।" आर्याम्बा ने आसपास खड़े लोगों से प्रार्थना की, "भगवान् के लिये कोई मेरे बेटे को बचाओ"।

"माँ! जल्दी से अनुमति दे दो।"

"बेटे! जो तुम्हें ठीक लगे करो", ऐसा कहकर आर्याम्बा बेहोश होकर गिर पड़ी। शंकर ने उच्च स्वर में "ओं भूः संन्यस्तं मया, ओं भुवः संन्यस्तं मया, ओं, सुवः संन्यस्तं मया" इस मन्त्र का उच्चारण किया और फिर "ओं भूः स्वाहा" कहकर अपना यज्ञोपवीत उतार कर जल में डाल दिया। इतने में धोबियों ने शंकर की कमर में रस्सी डाली और उसे तट की ओर खींचना शुरू कर दिया। दूसरी ओर से मछुआरों ने नाव में आकर मगर को भालों से बींध डाला। कुछ लोगों ने उस पर पत्थर फेंके। मगर पहले उलटा और फिर मरकर पानी की सतह पर तैरने लगा, सुरक्षित शंकर को तट पर लाया गया। बेहोश आर्याम्बा को "माँ! शंकर बच गया है, मगरमच्छ मर गया। उठो! उठो!" ऐसा कहकर लोगों ने चेतना दिलायी। आर्याम्बा उठी और लड़खड़ाते कदमों से हुये अपने पुत्र का आलिंगन किया। परन्तु शंकर बिना किसी प्रतिक्रिया के स्थिर खड़ा रहा। मगर द्वारा दिया हुआ घाव अभी तक बह रहा था। एक मछुआरा कुछ पत्तियाँ लेकर आया और उनको पीसकर घाव पर लेप लगाया। खून बहना बन्द हो गया।

आर्याम्बा ने कहा, "बहुत हो गया। अब आगे से तुम यहाँ स्नान करने नहीं आओगे। चलो, घर चलें।"

शंकर अपने स्थान से नहीं हिला।

"चलो बेटा!"

मछुआरों ने सोचा कि वह चलने में असमर्थ है इसलिये उसको उठाने के लिये आगे आये।

"मुझे छोड़ो। मैं चल सकता हूँ।"

"तो क्या है? आओ चलो।" माँ ने कहा।

"अब मैं एक सन्यासी हूँ। मैं घर नहीं जा सकता।" माँ हक्की-बक्की रह गयी। उसके मुँह से शब्द न निकले। पास खड़े एक वृद्ध ने कहा, "तुम आठ साल के बच्चे हो। तुम्हारा संन्यास लेने का क्या अर्थ है?"

किसी और ने कहा, "संन्यास तो केवल उनके लिये होता है जो अपने जीवन का भार स्वयं नहीं उठा सकते जैसे कि अन्धे या लूले-लंगड़े लोग। तुम्हें संन्यास लेने की क्या आवश्यकता है? तुम्हारे पास तो घर है, बड़े-बड़े बाग-बागान हैं।"

एक और वृद्ध ने कहा, "बेटा! अगर कोई संन्यास लेना भी चाहता है तो उसमें एक क्रम होता है या नहीं? पहले गृहस्थ बनना होता है, फिर साठ वर्ष बाद वानप्रस्थ होना होता है और अन्त में संन्यास लेते हैं। क्या पैदा होते ही कोई संन्यास लेता है?"

शंकर ने उनसे बहस नहीं की। आखिर में एक और वृद्ध बोला, "बेटा! बात सुनो। तुम्हारी माँ बिल्कुल अकेली है। उसका तुम्हारे सिवाय कोई नहीं है। क्या उसको ऐसे छोड़कर जाना उचित होगा? तुम ही बताओ। मातृदेव भव, पितृदेव भव, ऐसा तुम ही कहते हो। तुम्हारे पिता की मृत्यु हो चुकी है। तुम्हारी विधवा माँ ने तुम्हें कितने कष्टों से पाला है क्या तुम भूल गये हो? कुछ तो सोचो। जल्दबाजी न करो।"

आर्याम्बा जो सब कुछ चुपचाप सुन रही थी आखिर में बोली, "ऐसा न करो बेटा। अपने बड़ों की बात मानो। आओ घर चलो।"

"माँ! आपकी अनुमति से ही मैंने संन्यास लिया है। माता! सबके सामने और पंचभूतों के साक्षित्व में मैंने संन्यास लिया है। मेरा अब घर वापिस लौटना उपयुक्त न होगा।"

"हाय मेरा भाग्य!" ऐसा कहकर आर्याम्बा विलाप करने लगी। शंकर अचल खड़ा रहा। बड़े बूढ़ों ने बहुत कोशिश की। जिसको जो शास्त्र आता था, उसी का सहारा लेकर उन्होंने शंकर के संन्यास लेने को अनुपयुक्त बताया। उपस्थित स्त्रियाँ आँसू बहाने लगीं। मित्र को छूटता देखकर बालकों में उदासी छा गयी।

आखिर में शंकर ने दृढ़ता से कहा, "संन्यासी बनने के बाद मेरा घर लौटना धर्मानुकूल न होगा।"

"तो तुम मुझे घर में अकेला मरने के लिये छोड़ दोगे?"

"माँ! धैर्य रखो। मैं अब एक संन्यासी हूँ। तुम अकेली नहीं होगी। सम्बन्धी आते-जाते रहेंगे। विद्यार्थी भी आपका ध्यान रखेंगे। आपको कोई तकलीफ नहीं होगी। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आपके अन्तिम समय में मैं अवश्य आपके पास आऊँगा। मुझे आशीर्वाद दो।" इतना कहकर शंकर ने माँ को साष्टाँग नमस्कार किया, फिर उठा और पीछे देखे बिना दूसरे तट पर स्थित कृष्ण मन्दिर में भगवान् को प्रणाम करके चला गया। सब वृद्धजन अत्यन्त कुपित हुये।

• • •

अध्याय दो

कालड़ी से ओंकारेश्वर

वह कहाँ जा रहा था? जंगलों, पर्वतों, गुफाओं और नदियों को पार करता हुआ। किसलिये? एक सद्गुरु की खोज में। कभी उसे वनवासी, मछुआरे या यात्री मिलते, इसके सिवाय मार्ग में किसी मनुष्य से सम्पर्क नहीं होता। उसकी खोज जारी रही। "यहाँ कोई सिद्ध या महापुरुष है?" इस प्रश्न पर लोग उसे दूर कोई स्थल दिखाते परन्तु वहाँ उसे गुरु न मिलता। चलता हुआ वह मंगलूर के समुद्रतट पर पहुँचा। ऊपर झुलसाता सूर्य था। क्या कुछ खाने को मिलेगा? थकान के कारण शंकर धरती पर गिर पड़ा। पास की झोंपड़ियों से मछुआरे दौड़कर आये और उसे जल पिलाया। शंकर ने कहा कि वह अत्यन्त भूखा है। उसे दूध पीने को दिया गया। उन्होंने उसके पैर के घाव के विषय में पूछा। उसने बताया कि एक मगरमच्छ ने उसे पकड़ लिया था। "आप लोग हमेशा सुख से रहें।" ऐसा आशीर्वाद देकर शंकर आगे बढ़ा। इस प्रकार उसकी खोज चलती रही।

आगे चलते हुए शंकर शृंगेरी पहुँचे। वहाँ उन्होंने भिक्षा से भोजन प्राप्त किया। विश्राम करने के लिये वह तुंग नदी के तट पर बैठ गये जहाँ उन्होंने एक विस्मयकारी दृश्य देखा। उस कड़ी धूप में एक मेंढकी पत्थर के नीचे अण्डे दे रही थी। एक नाग फन फैलाये उसे संरक्षण दे रहा था। "अवश्य ही यह कोई पवित्र स्थान है", शंकर के मन में आया। किन्तु गुरुप्राप्ति अभी तक नहीं हुयी थी। उसे "तद्विज्ञानार्थ गुरुमेवाभिगच्छेत्" यह श्रुतिवाक्य स्मरण हो आया और उसने दृढ़ निश्चय किया कि जब तक गुरु नहीं मिल जाते तब तक वह चैन से नहीं बैठेगा। किसी ने उसे मूकाम्बिका जाने की सलाह दी। वहाँ उसे देवी के दर्शन तो हुये परन्तु गुरु के दर्शन नहीं हुये। पैरों से चलते हुये वह आखिरकार नर्मदा के तट पर पहुँचा। वहाँ किसी ने उसे बताया, "ओंकारेश्वर में एक वृद्ध महान् सिद्ध पुरुष हैं जिनका नाम है गोविन्द गुरु। वे सबके श्रद्धेय हैं, दूर-दूर से आये यात्री उनका दर्शन करे बिना नहीं जाते।"

शंकर को वहाँ जाने का मार्ग दिखलाया गया। शंकर वहाँ की ओर बढ़े। दूर से उन्होंने कुछ कषाय वस्त्र सूखते देखे जो गुरु के निवासस्थान का संकेत दे रहे थे। वे फड़फड़ाते वस्त्र मानों शंकर का हृदय से स्वागत कर रहे थे। नर्मदा में स्नान करके शंकर गुरु के दर्शन के लिये गये।

निकट ही एक गुफा थी जिसके आसपास कोई नहीं था। शायद शिष्य भिक्षा करने गये होंगे। शंकर ने झाँककर भीतर देखा, अन्दर गोविन्द गुरु आँखें मूंदे पद्मासन मे बैठे थे। उस मुख का दर्शन करते ही शंकर समझ गये कि उनकी खोज समाप्त हो गयी है। उनका हृदय आनन्द से भर गया। बिना नमस्कार किये शंकर बाहर प्रतीक्षा में बैठ गये। इतने में शिष्य भिक्षा लेकर लौट आये। शंकर खड़े हुये और उनमें सबसे ज्येष्ठ के पास जाकर नमस्कार किया। "आपको क्या चाहिए?", ज्येष्ठ शिष्य ने प्रश्न किया।

"मैं गुरुजी के दर्शन के लिये आया हूँ।"

"गुरुजी अभी समाधि में हैं। आप उनसे नहीं मिल सकते।"

"मैं यहीं बैठकर उनकी प्रतीक्षा करूँगा।"

"तुमने भोजन कर लिया क्या?"

"नहीं।"

शिष्य ने कुछ भोजन पत्ते में रखकर उससे खाने को कहा। परन्तु शंकर ने यह कहकर इन्कार कर दिया कि वह गुरु के दर्शन से पहले कुछ भी नहीं खायेंगे।

"वह कब उठेंगे कुछ निश्चित नहीं है।"

"कोई बात नहीं। मैं तब तक प्रतीक्षा करूँगा।"

गोविन्द गुरु न उस दिन उठे, न हि अगले दिन। तीसरे दिन उन्होंने अपनी आँखें खोलीं। शिष्यों ने उन्हें शंकर के आने की सूचना दी। उन्होंने उसे गुफा में लाने के लिये कहा। शंकर ने गुफा में प्रवेश किया और 'न कर्मणा न प्रजया' मन्त्र का उच्चारण करते हुये उन्हें साष्टांग नमस्कार किया।

"बालक! मैंने सुना है कि तुमने दो दिन से कुछ नहीं खाया। पहले जाओ कुछ खा लो। उसके बाद बात करेंगे।" कुछ हल्का-फुल्का खाकर शंकर वापिस आये। और गुरु के सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये।

"तुम बहुत थके हुए हो। बैठ जाओ। तुम्हारा नाम क्या है?"

"लोग मुझे शंकर बुलाते हैं।"

"तुम कहाँ के हो?"

"मैं केरल के कालड़ी ग्राम से आया हूँ।"

"तुम्हारा उपनयन नहीं हुआ क्या?"

"हुआ था। चार मास पहले मैंने आपत्संन्यास ग्रहण किया था। तब मैंने यज्ञोपवीत को नदी में प्रवाहित कर दिया।"

गुरुजी ने आश्चर्य से भौंहें उठाकर देखा, "क्या इसीलिये तुमने बिना हाथ में समित् लिये नमस्कार किया?"

"जी हाँ", शंकर ने उत्तर दिया।

"तुमने आपत्संन्यास क्यों लिया?"

शंकर ने जो कुछ हुआ था वह विस्तार से उन्हें निवेदन कर दिया।

"तुम्हारा उपनयन कब हुआ था?"

"तीन वर्ष की आयु में।"

"उसके बाद क्या तुम गुरुकुल गये थे?"

"हाँ।"

"वहाँ तुमने कितने समय अध्ययन किया?"

"डेढ़ साल"

"वहाँ तुमने क्या पढ़ा?"

"वेदाध्ययन किया।"

"कौन सा वेद?"

"चारों वेद।"

सब शिष्य यह सुन कर अवाक् रह गये। आश्चर्य से उनके मुँह खुले के खुले रह गये।

"और क्या पढ़ा?"

"षडंग और कुछ व्याकरण।"

"और पूर्वमीमांसा?"

"नहीं, पूर्वमीमांसा का अध्ययन नहीं किया।"

गुरुजी ने वेदों में से यत्र-तत्र कुछ मन्त्र शंकर से सुनाने के लिये कहा। षडंग और व्याकरण से सम्बन्धित भी कुछ प्रश्न पूछे। शंकर ने सबका उपयुक्त उत्तर दिया। सब शिष्य विस्मित रह गये। गुरुजी समझ गये कि यह कोई सामान्य बालक नहीं है। "इतनी कोमल आयु का होने पर भी कितना पाण्डित्य है। कितना दृढ़ संकल्प है। इसका अवतार धर्म के उद्धार के लिये ही हुआ है", ऐसा विचार कर गोविन्द गुरु ने शंकर को समुचित प्रशिक्षण देने का निश्चय किया "कुछ समय में ही तुम्हारा क्रम संन्यास होगा। तब तक तुम गायत्री उपासना करो। मार्जन, प्राशन आदि कर्म की आवश्यकता नहीं है। अर्घ्य प्रदान करके ही उपासना शुरू कर सकते हो। अब जाओ। निर्मलचैतन्य! शंकर के रहने की व्यवस्था करो।" ऐसा एक शिष्य को निर्देश देकर उन्होंने शंकर को भेज दिया।

शंकर अपनी आयु के अनुरूप सेवा देता और भिक्षा के लिये जाता था। बाकी का समय वह गायत्री उपासना में ही बिताता था। बहुत बार वह बाह्य-प्रजा से रहित हो ध्यान में रहता था, ऐसी अवस्था में गुरु जी ही उसे उठाते।

एक दिन गुरुजी ने शंकर को बुलाकर कहा, "मैं तुम्हें जीवों सहित इस जगत् का सृष्टिक्रम बताता हूँ, सुनो।"

फिर गुरुजी ने उपदेश आरंभ किया-"जगत् की सृष्टि और लय का चक्र चलता रहता है। इसका न आदि है न अन्त। वह सदैव चलता रहता है।"

"इस सृष्टि से पूर्व केवल ब्रह्म था। वह चेतन है और इतना सूक्ष्म है कि उसका वर्णन भी नहीं किया जा सकता। किन्तु जिस प्रकार बरगद के बीज में सूक्ष्म रूप से एक बड़ा बरगद का वृक्ष रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् अन्तर्भूत रहता है। जिस प्रकार जल से उत्पन्न होने से पहले भी बर्फ जल में जल रूप में रहती है, उसी प्रकार जगत् सृष्टि से पूर्व ब्रह्म में ब्रह्म रूप से रहता है। यही है ब्रह्म की शक्ति। इसको अपरा प्रकृति कहते हैं। आगे

चलकर यही जगद्रूप को प्राप्त होती है। जगत् में होने वाले समस्त व्यवहारों का कारण है ब्रह्म की क्रियाशक्ति प्राण। इसको परा प्रकृति कहते हैं। जब ब्रह्म में सृष्टि की इच्छा होती है तो इस प्राणबल का आधार लेकर अपरा प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं। अपरा प्रकृति सहित ये सात तत्त्व अष्टधाप्रकृति कहे जाते हैं।

"तन्मात्रा क्या होती हैं?"

"तन्मात्रा का अर्थ है केवल एक गुण से युक्त। जैसे शब्दतन्मात्रा केवल शब्दगुण से युक्त होती है। उसी प्रकार दूसरी तन्मात्राएँ भी। इसीलिये, सृष्टि अच्छी तरह विचारकर सावधानी से करनी होती है। इसके लिये मन और बुद्धि आवश्यक है। वह मन अत्यन्त निर्मल होना चाहिए और बुद्धि अतिसूक्ष्म और दृढ़। वे हमारे मन और बुद्धि की तरह चंचल और अस्थिर नहीं होने चाहिए। परमात्मा के संकल्प से ऐसी बुद्धि महत् से उत्पन्न होती है और ऐसा मन अहंकार से उत्पन्न होता है। इस मन और बुद्धि से सम्बन्धित जो चेतन है वह हिरण्यगर्भ है। पिछली सृष्टियों में वह महातपस्वी और महायोगी था। तपस्वियों और योगियों में उसके समान या उससे अधिक कोई नहीं था। जगत् सृष्टि स्वयं करने की इच्छा से उसने महान् तपस्या की थी। उसके फलस्वरूप परमात्मा की आज्ञा से उसे उस स्थान की प्राप्ति होती है।"

"तो क्या वह प्रथम जीव है?"

"हाँ। परन्तु हमारी तरह उसका स्थूल शरीर नहीं होता। वह पंचमहाभूतों की सृष्टि इस प्रकार करता है कि जब पंचतन्मात्रों की राशि से शब्दतन्मात्रा निकाली जाती है तो उसकी स्पन्दन सक्रिय हो जाती है और शब्दगुणयुक्त आकाश महाभूत उत्पन्न होता है। जब स्पर्शतन्मात्रा निकालता है तो उसकी स्पन्दन सक्रिय होती है और शब्द और स्पर्शगुणों से युक्त वायु महाभूत उत्पन्न होता है। उसी प्रकार रूपतन्मात्रा को निकालने पर शब्द, स्पर्श और रूप से युक्त तेज उत्पन्न होता है, और रसतन्मात्रा से जल उत्पन्न होता है जो शब्द, स्पर्श, रूप और रस से युक्त होता है। गन्धतन्मात्रा से शब्द, स्पर्श,

रूप, रस और गन्ध से युक्त पृथ्वी उत्पन्न होती है। पंचतन्मात्राओं से पंचमहाभूतों के इस सृष्टिक्रम को पंचीकरण कहते हैं। जिस प्रकार मन और बुद्धि की सृष्टि होने पर हिरण्यमार्ग प्रकट हुआ, उसी प्रकार इन पंचमहाभूतों के साथ प्रजापति प्रकट होता है। आगे होने वाली सृष्टि का निर्वाहक प्रजापति ही होता है।"

"सृष्टिकार्य को आगे बढ़ाने के लिये प्रजापति तेज, जल और पृथिवी महाभूतों को किसी परिमाण में मिलाते हैं। इन तीनों में तेज की बाकी दोनों पर प्रधानता रहती है। इससे असंख्य तेजस्वियों की उत्पत्ति होती है जैसे सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, बिजली इत्यादि। इसी प्रकार, जब जल की प्रधानता से मिश्रण किया जाता है तो असंख्य जल उत्पन्न होते हैं जैसे कि पानी, दूध, फल के रस इत्यादि। जब पृथिवी की प्रधानता रखकर तीनों महाभूतों का मिश्रण किया जाता है तो असंख्य प्रकार की मिट्टी उत्पन्न होती है। इस मिश्रण की प्रक्रिया को त्रिवृत्करण कहते हैं। इससे उत्पन्न पदार्थ असंख्य देवताओं के निवास स्थान हैं। पुनः सूर्य के तेज, वर्षा के जल और पृथिवी के मिश्रण से वृक्ष, लता, झाड़ियाँ इत्यादि उत्पन्न होती हैं। इनमें विद्यमान तेज, जल और पृथिवी के मिश्रण से प्राणियों के शरीर उत्पन्न होते हैं। इनमें से जो आरंभ में जन्म लेते हैं वे साक्षात् पृथिवी में से ही निकलते हैं। अतः उनको अयोनिज ब्रह्ममानस पुत्र और पुत्री कहते हैं। मनु, शतरूपा, मरीची आदि सप्तऋषि, सनकादि, कर्दम इत्यादि प्रजापति इसी प्रकार जन्म लेते हैं। ये सब पूर्वसृष्टियों में महान् सिद्धपुरुष थे। अपनी तपस्या के फलस्वरूप ये सृष्टि के आरंभ में जन्म लेते हैं और आगे जन्म लेने वाली प्रजा के मार्गदर्शक बनते है। बाद में मनु-शतरूपा के पुत्र-पौत्रों से मानवजाति की वृद्धि होती है। इनको मानव इसीलिये कहा जाता है (मानव=मनु से उत्पन्न)। उसके बाद अपनी योगशक्ति से अन्य प्राणियों के रूप धरकर उन प्राणियों की सृष्टि में कारण बनते हैं।"

शंकर ने पूछा, "मैंने सुना है कि सृष्टिकर्ता परमेश्वर है। वह कौन है? उसका ब्रह्म से क्या सम्बन्ध है?"

गुरुजी ने उत्तर दिया, "मैंने तुम्हें बताया था कि परा प्रकृति और अपरा

प्रकृति दोनों ब्रह्मशक्ति हैं। इन दोनों के द्वारा जाना गया ब्रह्म ईश्वर कहलाता है। उदाहरण के लिये, सोने की अंगूठी का आकार भी सोना ही है परन्तु आकार के द्वारा जाना गया सोना अंगूठी कहलाता है। उसी प्रकार यहाँ पर भी।"

"जगत्सृष्टि का उद्देश्य क्या है?"

"जीवों के कर्म के लिये और भोग के लिये। यदि जगत् न हो तो न कर्म हो सकते और न भोग। अतः सृष्टि होती है।"

गुरुजी द्वारा दिये गये इस उपदेश के आधार पर शंकर ने तैत्तिरीय उपनिषद और छान्दोग्य उपनिषद का गंभीर अध्ययन किया। विविध उपनिषदों में सृष्टिक्रम अलग-अलग प्रकार से वर्णित होने के कारण सामान्य जनों को उसमें विरोध दिखता है। परन्तु शंकर समझ गये कि कहीं कोई विरोध नहीं है।

× × ×

सभी शिष्यों में गुरुसेवा का अत्यधिक उत्साह था। परन्तु गुरुजी को सब शिष्यों की सेवाएं स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं थी। इसलिये यह नियम किया गया कि एक-एक शिष्य एक-एक सेवा किया करे। एक दिन गुरुजी की भिक्षा लाने का कार्य शंकर को सौंपा गया। उसने भिक्षा लाकर परोसी, बाद में उस स्थल की सफाई की और फिर स्वयं भोजन किया। बाद में गुरुजी के कहे वाक्यों का मनन करता हुआ वह बहुत समय तक नर्मदा के तट पर टहलता रहा। चिन्तन तीव्र होने लगा तो वह एक शिला पर बैठ गया। 'तस्य क्व मूलं स्यात् अन्यत्रान्नात्?' अन्नेन शुङ्गेन आपोमूलमन्विच्छ, अद्भिः शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ, तेजसा शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ'-इस शरीर के लिये अन्न से अतिरिक्त और क्या कारण था? अन्न नामक कार्य के द्वारा जल नामक मूल का अन्वेषण करो। जल नामक कारण के द्वारा तेज नामक मूल को ढूंढो, तेज के द्वारा सत् नामक कारण का अन्वेषण करो, यह छान्दोग्यवाक्य उसके स्मृतिपटल पर उभरा और चिन्तन का अवसर दिया, "यह शरीर अन्न से आया है। तो शरीर का सार अन्न ही हुआ। उसी प्रकार, जल अन्न का सार और तेज जल का सार है। इस प्रकार उसका मन शरीर के पूर्व-पूर्व कारणों

से होता हुआ पंचभूतात्मक शरीर से युक्त प्रजापति में जा ठहरा। वहाँ उसे पितृलोक, स्वर्गादि देवलोक, इन्द्रलोक इत्यादि दिखायी दिये। वहाँ से प्रजापति के मूल हिरण्यगर्भ के पास गया। वहाँ उसने अवर्णनीय दृश्य देखे।

'अहो! ये क्या है? ये दोनों समुद्र कौन से हैं?'

'अर और ण्य'

'कितना आश्चर्यजनक है। यह सरोवर कौन सा है?'

'ऐरयदीय–अन्न का सार। इसका सेवन करके महान् हर्ष होता है।'

'यह अश्वत्थ कौन सा है?'

'यह अमृतस्रावी वृक्ष है।'

'तो क्या यह ब्रह्मलोक है?'

'हाँ।'

'यह स्वर्णमण्डप कौन सा है?'

'यह प्रभु द्वारा निर्मित है।'

'यह सब क्या है?'

'आप ही देखो।'

शंकर ने जहाँ से शब्द आ रहा था वहाँ देखा। वहाँ कोई नहीं दिखायी दिया। शब्द कहाँ से आ रहा था यह स्पष्ट पता नहीं पड़ा। इन विचित्र दृश्यों को देखकर उसका मन विचलित हो गया। बन्द आँखें खुल गयीं। सामने चिरपरिचित नर्मदा थी। अभी तक जो देखा था वह आधे क्षण में ही अदृश्य हो गया। पुनः चिन्तन आरंभ हुआ।

'मैंने जो अभी तक देखा वह सपना था या सत्य है?'

'स्वप्न और सत्य में क्या भेद है?'

'जागते ही जो नष्ट हो जाता है वही स्वप्नलोक है। वह फिर दिखायी नहीं देता। किन्तु जाग्रदवस्था का जगत् ऐसा नहीं है। पिछले दिन देखा हुआ ही फिर से दिखायी देता है। पिछले दिन के अधूरे कार्य को आज आगे बढ़ाया जा सकता है। अतः जाग्रत जगत् सत्य है।'

'स्वप्न में भी सोकर जागने पर ऐसा ही होता है। अतः वह भी इसके समान सत्य ही है।'

'किन्तु स्वप्नलोक तो केवल जाग्रत का मानस प्रत्ययमात्र है। वह केवल स्मृति है। वहाँ विषय नहीं है।'

'यह तो ठीक है, परन्तु विषय स्थूल होते हैं और उनके मानसप्रत्यय सूक्ष्म, यही विषय और उनके स्मरण में भेद है। स्थूलविषय हों या स्वप्नविषय हों, भोगदृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, एक ही है। भोजन स्वप्न में किया गया हो या जाग्रत में, तृप्ति समान ही है। हिरण्यगर्भ सूक्ष्मभोगी होने के कारण मानसलोकों से ही सन्तुष्ट रहता है। जीव तो स्थूल भोगी है, उसके लिये ही यह स्थूल जगत् है।'

आगे शंकर के चिन्तन ने एक और मार्ग पकड़ा। 'प्रश्न पूछने वाला मैं हूँ। उनके उत्तर कौन दे रहा है? क्या उनके उत्तर मुझसे ही आ रहे हैं? यदि उत्तर मुझसे ही आ रहे होते तो मुझमें प्रश्न उठते ही नहीं। प्रश्न और उत्तर का क्या एक ही व्यक्ति में रहना साध्य है? यह साध्य नहीं है.......... अथवा ये उत्तर बाहर से ही आ रहे हैं। तब तो मुझसे भिन्न किसी से उत्तर आ रहे हैं। वह मुझमें ही है। दूसरों को भी अपने प्रश्नों के उत्तर मिलते ही हैं। वह प्राय सबमें रहता है। अतः, सबके प्रश्नों का उत्तर देनेवाला वह 'सर्वज्ञ' ही होना चाहिये। वह कौन है? क्या हिरण्यगर्भ है? वह भी हो सकता है। किन्तु उसका भी तो जन्म होता है न। सबसे पहले उसी का जन्म हुआ था। इसलिये सर्वज्ञरूपी साक्षी उसका भी साक्षी हुआ। तभी उसमें किसी प्रकार के सन्देह नहीं रह सकते। क्यों नहीं रह सकते? मुझे सन्देह अपने से भिन्न किसी विषय में हो सकता है........हाँ। तब उसको सन्देह नहीं होता। इसका कारण क्या है? हाँ समझ गया। उसका अपनी अपेक्षा और कोई नहीं है। वह ही सब है। जब सब वही है तो किसके विषय में सन्देह होगा। जब तक शरीर में मैं और मेरे का अभिमान रहता है तभी तक अपने से भिन्न बहुत होते हैं। उनके विषय में संशय आते ही रहते हैं। जब इस सम्पूर्ण जगत् का कारण वह सर्वज्ञ मैं हूँ इस ज्ञान का उदय होता है तो अपने से भिन्न कुछ नहीं रहता और संशय आते ही नहीं। क्यों संशय नहीं आते? जिसके ज्ञान से अश्रुत श्रुत हो

जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात ज्ञात हो जाता है वही वह सर्वज्ञ है–'येन अश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतं भवति अविज्ञातं विज्ञातं भवति, तत् ब्रह्म'।

कुछ दिन बाद गुरुजी ने नया पाठ शुरू किया। उन्होंने कहा–

"पिछली बार मैंने तुम्हें सृष्टिक्रम बताया था। उसमें एक बात कभी न भूलना। जब प्राण, अव्यक्त आदि से लेकर जीव तक ब्रह्म से आते हैं, वे धनुष से बाण की तरह ब्रह्म से अलग होकर नहीं निकलते हैं। ब्रह्म सबमें समानरूप से अनुसरण करता आता है। यह स्मरण नहीं रखोगे तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्य का अर्थ समझ में नहीं आयेगा। ये अनुसरण उसी प्रकार है जिस प्रकार सोना सोने के टुकड़े में और आभूषण में अनुसरण करता आता है। इसके अलावा मनुष्य शरीर में एक और विशेषता है कि उसमें ब्रह्माण्ड के तत्त्व अवस्थित हैं, किस प्रकार हैं, बताता हूँ, समझो।"

"गुदा से गले तक गयी हुयी रीढ़ की हड्डी को मेरुदण्ड कहते हैं। उसकी बायीं ओर ईडानाडी, दाहिनी ओर पिङ्गलानाडी और बीच में सुषुम्नानाडी होती है। इन तीनों का संगम भ्रू के मध्यस्थान में होता है। गुदाद्वार में जहाँ सुषुम्नानाडी का आरंभ होता है, उसके पास मूलाधारचक्र होता है, उसके ऊपर जननेन्द्रिय के निचले भाग में स्वाधिष्ठानचक्र होता है, उसके ऊपर और नाभि के नीचे मणिपूरचक्र, उसके ऊपर हृदय के निकट अनाहतचक्र, उसके ऊपर कण्ठ के नीचे विशुद्धचक्र होता है। इस प्रकार पाँच चक्र होते हैं। इनमें क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पंचीकृत महाभूत होते हैं। इसी क्रम में गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द तन्मात्राओं से युक्त त्रिवृत्कृत भूत होते हैं। इसी प्रकार घ्राण, जिह्वा, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र–इन ज्ञानेन्द्रियों के शक्तिस्थान भी क्रमशः चक्रों में होते हैं। इसी क्रम में ही भूः, भुवः सुवः, महः, जनः ये व्याहृतियाँ साकिनी, काकिनी, लाकिनी, राकिणी और डाकिनी ये व्यष्टि देवता और पंचमहाभूतों के समष्टिदेवता होते हैं।

इसके ऊपर होता है आज्ञाचक्र जो कि विशुद्धचक्र के ऊपर माथे के पास होता है। यह पंचमहाभूतों की कारणभूत प्रकृति का, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के ग्रहणसामर्थ्य से युक्त अन्तःकरण का, व्यष्टि देवता

हाकिनी का, समष्टि देवता हिरण्यगर्भ का और तप व्याहृति का स्थान है। इसके भी ऊपर सहस्रारचक्र होता है। सिर पर एक उल्टे कमल के रूप में स्थित यह चक्र सत्य व्याहृति का, व्यष्टिदेवता याकिनी का और ईश्वर का स्थान है। यहाँ स्थित ब्रह्मरन्ध्र से ही देह में प्रवेश करके ईश्वर जीव के जीवन का आधार बनता है। ये सब कुछ अच्छी तरह से समझ गये न?"

"चक्र ज्ञानेन्द्रियों के शक्तिस्थान किस प्रकार हैं?"

"देखो। गन्ध को सूँघती है मुख पर स्थित नाक। फिर भी, सूँघते समय साँस को खींचने की अपानवायु की क्रिया का बल मूलाधार में स्थित गुदगुह्य में है। अतः, मूलाधार पृथ्वीभूत और 'गन्ध' इन दोनों का स्थान है। इसी प्रकार अन्य चक्र भी।"

"व्याहृति का अर्थ क्या होता है?"

"वह देवता का नाम है। अपने नाम द्वारा पुकारे जाने पर देवता 'हाँ' कहते हैं, अर्थात् अनुग्रह करते हैं। व्याहृति शब्द की ध्वनि उसका स्वभाव भी है। कैसे? देखो, वस्तु का स्वभाव उसके द्वारा किये गये शब्द से पता पड़ता है। उदाहरण के लिये, किसान बड़े-बड़े पीपों में अनाज भरकर रखते हैं। नीचे से ऊपर तक लाठी मारते हुये यह निश्चय होता है कि अन्दर कितना अनाज है। नाड़ी का शब्द सुनकर वैद्य शरीरस्थ रोग का पता लगा लेते हैं। लेकिन यहाँ देखो........." और फिर गुरु ने अपने कमण्डलु पर चम्मच मारा और उससे निकले शब्द का अनुसरण करते हुये अपने मुँह से 'ठिण' शब्द का उच्चारण किया।

"ये ठिण, जो मैंने कहा है यह कमण्डलु का शब्द न होते हुये भी उसके निकट है। उसी प्रकार, भूः शब्द पृथ्वीतत्व के स्वरूप को सूचित करता है। मूलाधार में स्थित पृथ्वीतत्व और शरीर से बाहर स्थित पृथ्वीतत्व स्वरूपतः समान ही हैं इसलिये उनकी व्याहृति और स्वभाव भी समान ही है। परन्तु उपासक द्वारा उच्चारित भूः व्याहृति पृथ्वीव्याहृति के साथ पूरी तरह मेल नहीं खाती। उन दोनों को मिलाने में एक दृष्टान्त देखो, अपनी वीणा का शब्द यदि शिक्षक की वीणा के शब्द से मेल नहीं खाता तो तारों को खींचा जाता है और मेल बिठाया जाता है। उसी प्रकार, अपनी व्याहृति का

पृथ्वीव्याहृति से ऐक्य बिठाने के लिये अपने प्रयत्न की आवश्यकता है। इसीलिये, पृथ्वी का स्वरूप जानने के साथ-साथ अपना और उसका सम्बन्ध गुरुमुख और शास्त्र के द्वारा जानना चाहिये। इस प्रकार उपासना से अपनी बुद्धि में देवता के स्वरूप से समानता होने पर देवता की बुद्धि के अनुसार उपासक की बुद्धि प्रतिस्पन्दन करती है। तब देवता का व्यवहार उपासक द्वारा भी हो सकता है। इसको 'भूतजय' कहते हैं। उदाहरण के लिये, तपः व्याहृति से आज्ञाचक्र के समष्टिबुद्धि देवता हिरण्यगर्भ की उपासना द्वारा उत्पन्न प्रतिस्पन्दन से उपासक को त्रिकालज्ञान और सबके मन को जानने का सामर्थ्य प्राप्त होता है। किन्तु सावधान रहो। सिद्धियों के विषय में व्यामोह नहीं करना चाहिये। उनका प्रयोग धर्म की रक्षा के लिये होना चाहिये।"

अगले दिन प्रातः सन्ध्योपासना करके शंकर गुरुजी के पास गया। उनको साष्टाङ्ग नमस्कार किया। गोविन्दभगवत्पाद ने उसके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। उसके बाद शंकर की साधना प्रारंभ हुयी। दूसरे शिष्यों से गुरुजी बोले, "तुम लोग शंकर के लिये भिक्षा ले आया करो। उसके लिये रख दिया करो; अगर वह ध्यान में हो तो उसे मत उठाना। वह जब भी उठेगा खा लेगा।"

शंकर भिक्षा के लिये नहीं जाता था। प्रतिदिन नर्मदा में स्नान करके पास ही एक छोटी गुफा में ध्यान के लिये बैठ जाता और कभी-कभी ही बहिर्मुख होता। दोपहर में जागृत होता तो भिक्षा खा लेता नहीं तो उतना भी नहीं होता था। कभी-कभी तो दो-दो, तीन-तीन दिनों तक भी नहीं उठता था। जाग्रदवस्था में वह किसी से बातचीत नहीं करता था। स्वयं जाकर उससे बात करने का साहस किसी शिष्य में नहीं होता था। एक दिन जब शिष्यों ने भिक्षा देने के लिये शंकर की गुफा में प्रवेश किया तो उन्हें एक अवर्णनीय सुगन्ध का अनुभव हुआ। गंभीर, मन्द ध्वनि में 'भूः' शब्द सुनायी दिया। उन्होंने झुककर उसका मुख देखा। उस पर एक अलौकिक तेज विद्यमान था परन्तु मुँह बिल्कुल नहीं चल रहा था। शब्द कहाँ से आ रहा था यह पता नहीं पड़ रहा था। शिष्य लायी हुयी भिक्षा को वापिस ले चले और दौड़कर गुरु को सूचित किया।

"ऐसा है क्या? तब तो उसने पृथ्वीभूत को जीत लिया है। उसकी साधना के बारे में गांव के लोगों से कुछ मत कहना। यदि कहा तो वे उसके दर्शन के लिये आने लगेंगे और तपस्या में विघ्न पड़ेगा।" गुरुजी बोले।

शीत ऋतु आ पहुँची थी। शंकर चार दिन से नहीं उठा था। समाधि स्थिति में वह पत्थर की मूर्ति के समान बैठा था। शिष्य प्रतिदिन उसके लिये भिक्षा लाकर गुफा के द्वार पर रख रहे थे। शाम के बाद सब एक-एक ग्रास का वितरण करके प्रसादरूप से उसे ग्रहण करते थे। प्रतिदिन वे गुरुजी को यही बताते, "शंकर आज भी नहीं उठा", और गुरुजी हर बार यही उत्तर देते, "उसे उठाना मत"। पाँचवें दिन एक ज्येष्ठ शिष्य ने साहस करके गुफा में झांका। गुफा में पहला कदम रखते ही उसे एक असहनीय ताप की अनुभूति हुयी, यद्यपि बाहर शीत ऋतु के कारण अत्यन्त ठण्ड थी। आश्चर्य से उसने एक कदम और आगे बढ़ाया तो देखा कि शंकर की नाभि से आग की चिंगारियाँ फूट रही थीं। डर के मारे वह भागता हुआ गुरुजी के पास आया और उन्हें सब बताया। गुरुजी ने कहा, "घबराने की कोई बात नहीं है। उसने बहुत कम समय में बहुत अधिक साधना की है। उसने अब अग्नितत्व को जीत लिया है। देखो कि उसकी उपासना किसी प्रकार भी भंग न हो। अब उसके लिये भिक्षा भी लाकर रखने की आवश्यकता नहीं है।"

"गुरुजी! बिना खाये वह कैसे जी पायेगा?"

"अब ध्यान ही उसका आहार है। अब अपने संकल्प से ही वह दूसरों का भी पेट भर सकता है।"

इतना कहने पर भी गुरुजी को स्वयं भय लगा जब आठवें दिन भी शंकर नहीं उठा। उन्होंने मन ही मन सोचा, "यदि इसे ऐसे ही छोड़ दिया तो यह रुद्रग्रन्थि का भी भेदन करके सहस्त्रार में स्थित हो जायेगा। फिर तो यह ईश्वर के समान प्रवृत्तिरहित हो जायेगा। ऐसा होने पर लोक को इससे कोई लाभ नहीं होगा। किन्तु इसे तो भविष्य में महान् कार्य सिद्ध करने हैं।" ऐसा सोचते हुये गुरुजी ने उसे उठाने का निश्चय किया। गुफा में प्रवेश करके उन्होंने मृदुता से अपना सीधा हाथ उसके सिर पर रखा और धीरे-धीरे हिलाते हुये बोले, "शंकर बेटा! बहुत हुआ, अब उठो"। शंकर धीरे-धीरे

बहिर्मुख हुआ और आँखें खोलीं। उसके नेत्र खिले हुये लाल कमल की तरह थे। वह धीरे से उठा और गुरु को साष्टांग प्रणाम किया। जब शंकर उठा तो गुरुजी बहुत देर तक एक माँ के समान उसका आलिंगन करते रहे। फिर गुरुजी वापिस लौट गये। उनके जाने के बाद शिष्य एक समूह में आकर उसे प्रणाम करने लगे तो शंकर ने उन्हें रोका।

× × ×

कुछ दिन के विश्राम के बाद गुरुजी ने शंकर को पूर्वमीमांसा पढ़ाना आरंभ किया : "वेद के दो भाग हैं–कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। पहले कर्मकाण्ड के विषय में सुनो, जीते हुये और मरने के बाद भी सुखप्राप्ति के लिये क्या करना होता है वह इस काण्ड में बताया गया है। यह हमारे द्वारा स्वयं अपनी बुद्धि द्वारा जान लेना साध्य नहीं है। साधारणतया लोग सुख के लिये अपने निश्चय के अनुसार ही प्रयत्न करते रहते हैं। लेकिन इसका भरोसा नहीं होता कि सुख ही मिलेगा, बहुत बार तो उन्हें अपने प्रयासों के फलस्वरूप दु:ख ही मिलते हैं। ज्ञानकाण्ड तो शाश्वत सुख के लिये प्राप्तव्य मोक्ष के बारे में बताता है। इसके विषय में अनुमान करके जान लेना साध्य नहीं है अत:, सुखप्राप्ति का साधन वेद ही बता सकते हैं।"

शंकर ने पूछा, "लोग तो प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा ही किसी विषय के बारे में निष्कर्ष निकालते हैं। वे उनमें विश्वास रखते हैं क्योंकि इन प्रमाणों के द्वारा उन्हें साक्षात् अनुभव होता है। वेदों में विश्वास करने का क्या आधार है?"

"बोलता हूँ, सुनो! पिछले जन्मों के कर्म और इस जन्म के कर्म अगर परस्पर अनुकूल होते हैं तो फल प्राप्त होता है, विरुद्ध होते हैं तो फल प्राप्त नहीं होता। पिछले जन्म प्रत्यक्ष नहीं होते। अत:, किसी अन्य व्यक्ति की तरह कर्म करके उसी की तरह सुख प्राप्त करना असाध्य है। जब जीवित दशा में ही सुखप्राप्ति के उपाय इतने रहस्यमय हैं तो मरणानन्तर सुखप्राप्त करना असाध्य है। तब जीवित दशा में ही सुख प्राप्त करने के विषय में क्या कहना है? केवल हृदयस्थ परमेश्वर ही एक-एक के पिछले जन्मों के कर्मों को जानता है। सुखप्राप्ति के लिये उसे क्या करना है इसको बताने वाला

केवल ईश्वर है। वेद उसी से आये हैं। वह किसी बुद्धिमान् मनुष्य द्वारा विचार करके लिखे ग्रन्थ नहीं हैं। वेद अपौरुषेय हैं। इसलिये, जो विषय प्रत्यक्ष और अनुमान से अग्राह्य हैं, उनमें वेद ही प्रमाण हैं।"

"वेद ईश्वर से आये हैं, यह हम कैसे कह सकते हैं?"

"वेदों के कुछ लक्षणों द्वारा। पहला लक्षण यह है किसी प्रसिद्ध ग्रन्थ का कर्ता कौन है यह भी प्रसिद्ध ही होता है। सब जानते हैं कि व्याकरण के रचयिता पाणिनि हैं, महाभारत के व्यास और मूलरामायण के वाल्मीकि। कितना भी समय बीत जाये लोग इसे नहीं भूलते। यदि वेदों का भी ऐसा कोई रचयिता होता तो उसे भी लोग नहीं भूलते। लेकिन उसके कर्ता को कोई नहीं जानता। द्वितीय लक्षण यह है: वेद में स्वर, मात्राबल इत्यादि संगीतलक्षण होते हैं। स्वर तीन होते हैं, उच्च स्वर ऋषभ, नीच स्वर निषाद और मध्यस्वर षड्ज। सामवेद में सात स्वर होते हैं। मात्रा से यह निश्चित होता है कि अमुक स्वर को कितना दीर्घ उच्चारित किया जाये। 'यह कोयल की कूक के समान, यह मयूर की केकार के समान', इस प्रकार मात्रा का निर्देश दिया जाता है। एक-एक अक्षर का उच्चारण भी परम्परा से निश्चित है। बहुत स्थानों में स्वरभेद से अर्थभेद भी हो जाता है। इस विषय में एक कथा है। त्वष्टा नामक एक असुर था। इन्द्र को जीतने वाले एक पुत्र की अभिलाषा से उसने यज्ञ किया। यज्ञ के अन्तिम चरण में पहुँचने पर देवता अत्यन्त भयभीत हो गये और रक्षा के लिये माता सरस्वती के पास गये। माँ ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और अपनी योगशक्ति से त्वष्टा के कण्ठ में प्रवेश कर गयी। यज्ञ के अन्त में उसे 'इन्द्रशत्रो वर्धस्व' इस प्रकार प्रार्थना करनी थी। इसमें द्वितीय अक्षर का नीचस्वर, चतुर्थ का उच्च स्वर और बाकियों का मध्यस्वर होना था। कण्ठ में प्रविष्ट हुयी सरस्वती के प्रभाव से उसने द्वितीय अक्षर का उच्चस्वर और बाकियों का मध्यस्वर में उच्चारण किया। उससे 'इन्द्रस्य शत्रो वर्धस्व' के स्थान पर 'इन्द्रस्य यस्य शत्रुः स वर्धस्व' अर्थात् 'इन्द्र के शत्रु की जय हो, के स्थान पर 'शत्रु इन्द्र की जय हो' ऐसा अर्थ हो गया। बाद में त्वष्टा के पुत्र त्वाष्ट्र का इन्द्र द्वारा वध किया गया। इस प्रकार निश्चित मात्रा-स्वर अनादि काल से चले आ रहे हैं। अगर इनका रचयिता कोई मनुष्य होता, तो ये इस प्रकार बने नहीं रह सकते थे।"

"तृतीय लक्षण है वेद का अनन्तत्व। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार उनके समय में वेद की शाकलशाखा, वाष्कलशाखा, तैत्तिरीयशाखा, माध्यन्दिनशाखा इत्यादि 1131 शाखाएँ थीं। उनका सम्पूर्णतया पारायण करने के लिये लगभग 50,000 घण्टे का समय चाहिये। इससे वेद के अनन्त विस्तार का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इतना विस्तृत साहित्य एक मनुष्य द्वारा रचित होना सम्भव नहीं है।"

"वेद का बहुत कर्ताओं द्वारा रचित होना भी सम्भव नहीं है। क्योंकि सबका सभी विषयों में एकमत होना सम्भव नहीं होता। परन्तु वेद में किसी भी विचार में अन्तर्विरोध नहीं दिखता। ये चारों लक्षण याद रखने पर वेद की अपौरुषेयता के विषय में सन्देह नहीं उठता।"

"गुरुजी! ईश्वर द्वारा रचित शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का तो हम प्रत्यक्ष अनुभव कर पाते हैं, परन्तु वेद, ईश्वर की रचना होने पर भी, हम प्रत्यक्ष नहीं सुन पाते तो फिर मनुष्यों को उसकी प्राप्ति कैसे होती है?"

"सृष्टिक्रम तो तुम्हें पता ही है। पेड़–पौधों इत्यादि की सृष्टि के बाद अयोनिज मरीचि आदि सप्तऋषि, सनकादि ज्ञानी पृथ्वी से जन्म लेते हैं। ये सब पिछली सृष्टि के महापुरुष थे जिन्होंने अत्यधिक तप और योग का अनुष्ठान किया। पिछले जन्मों में जो उन्होंने वेद का अध्ययन किया था वह उन्हें परमेश्वर के अनुग्रह से स्मरण हो आता है। कर्मकाण्ड का भाग मरीचि आदि को और ज्ञानकाण्ड का भाग सनकादि को स्मरण हो आता है। इस प्रकार जो भाग जिसको स्मरण आता है वे उस भाग के ऋषि होते हैं। ये द्रष्टा हैं, कर्ता नहीं। बाद में सप्तर्षियों के कुल में जन्म लेने वाले भी द्रष्टा होते हैं। इसलिये वेद नित्य हैं।"

"अब तक जो सरलता से ग्रहण किया गया है, उसका और गम्भीरता से विचार करना चाहिये। उससे पहले शब्द और शब्दार्थ के सम्बन्ध के नित्यत्व को समझो। यह सबका अनुभव है कि पहले से ही मन में विद्यमान शब्द ही वाग्रूप से प्रकाशित होते हैं। मन में शब्द कहाँ से आते हैं बोलो?"

"पूर्वजों से सुने हुये शब्द स्मृति में होते हैं। स्मृति से मन में प्रवेश करते हैं।"

"पूर्वजों में शब्द कहाँ से आते हैं?"

"उनके भी पूर्वजों से आते हैं।"

"इससे यह सिद्ध होता है कि शब्द अनादि है और शब्द और शब्दार्थ का सम्बन्ध भी अनादि है। अतः शब्द और शब्दार्थ अपौरुषेय हैं। 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते'– वह धीर सब रूपों को रचकर उनका नामकरण करता है और फिर उन नामों से उन्हें बुलाता है। इसी प्रकार, वेदवाक्य भी अनादि और अपौरुषेय हैं।"

प्रश्न "शब्द और शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य होने पर भी वाक्यस्थ पदसमूह की अपेक्षा वाक्य का एक और विशिष्ट ही अर्थ होता है। अतः कहें कि वाक्य पौरुषेय हैं तो?"

"ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिये क्योंकि वाक्य का अर्थ उसके पदों से ही ज्ञात होता है। यदि वाक्य का अन्य विशिष्ट ही कोई अर्थ हो तो उसका बोध कराने के लिये एक और वाक्य की आवश्यकता होगी। प्रश्नः "एक ही अर्थ, पर्यायशब्दों द्वारा अलग-अलग वाक्यों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। उसी प्रकार, वेद का एक ही अर्थ होने पर भी उनको समझने वाले ऋषियों के अनुसार अर्थ अलग-अलग हो सकते हैं। अतः, वेद पौरुषेय हो सकते हैं न?" उत्तर "ऐसा नहीं। यह सही है कि अर्थ को समझने वाला पर्यायशब्दों द्वारा उसे अभिव्यक्त कर सकता है। वेद के भाष्यकारों ने यही किया है। परन्तु अर्थ समझने का आधार वाक्य ही है। इतना ही नहीं, वेद का अर्थ दूसरे प्रमाणों द्वारा नहीं जाना जा सकता। अतः, वेद का अर्थ जिसको जानना है उसके लिये वेदवाक्य पहले है, अर्थग्रहण बाद में।

वेदार्थ जानने वालों पर भी यही नियम लागू होता है। वामदेवप्रभृति ऋषि जिन्हें पहले से ही वेद का अर्थ ज्ञात होता है, वे उन वाक्यों के स्मरणमात्र से जिनसे उन्होंने वेदार्थ समझा था मन्त्रद्रष्टा हो जाते हैं, ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं है। वे पर्यायवाक्यों का स्मरण करते हैं, ऐसी कल्पना के लिए कोई अनिवार्य कारण भी नहीं है। ज्ञान और स्मरण तो भगवान के अनुग्रह से होता है– 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'।

इसलिये यह कहना युक्त है कि पिछली सृष्टि में जो वाक्य थे, उन्हीं का स्मरण भगवान् ऋषियों को कराते हैं। वेद के कथन 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः'– से यह स्पष्ट है कि इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि 'यथापूर्व' है, अर्थात् जैसी पहले थी वैसे ही अब भी है, इसीलिये वेद, जो कि ब्रह्माण्ड का ही एक अंश है, वह भी यथापूर्व ही है।

प्रश्न :–"यदि ऐसा है तो एक ही वेदवाक्य के अलग–अलग लोग, अलग–अलग अर्थ कैसे ग्रहण करते हैं?"

उत्तर – "सही अर्थ को ग्रहण करने में बाधक हैं व्यक्ति के संस्कार। विरुद्ध संस्कारों के कारण, श्रुत अर्थ की हानि करके अश्रुत अर्थ की कल्पना करते हैं। इसके निवारण के लिये ही जिज्ञासा होती है। अलग–अलग व्यक्तियों द्वारा अलग–अलग अर्थग्रहण करना वेदवाक्यों का दोष नहीं है, सुनने वालों का दोष है। प्रमातृ का दोष प्रमाण पर डालना उचित नहीं है। उदाहरण के लिये, शुक्ति में रजत देखना नेत्र का दोष नहीं है, देखने वाले के संस्कार का दोष है।"

प्रश्न :– "वाक्यश्रवण के बाद दोषपूर्ण अर्थ को ग्रहण करने का कारण पता पड़ गया। परन्तु सुसंस्कृत व्यक्तियों को भी वाक्यश्रवण के बाद संशय होता है। उसका क्या कारण है?"

उत्तर – "उसका कारण इस प्रकार है: किसी गंभीर विषय का बोध एक ही वाक्य द्वारा नहीं कराया जा सकता। कई वाक्यों का प्रयोग करना पड़ता है। कोई वाक्य एकदेशीय अर्थ को ही समझाते हुये श्रोता को समग्र अर्थ की तरफ ले जाता है। जिस प्रकार एक घर की दिशा, पहुँचने वाले मार्ग की अपेक्षा से बदलती रहती है, उसी प्रकार वाक्यों की दिशापरिवर्तन भी अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में सन्देह उठना स्वाभाविक है। अतः, अर्थ ग्रहण करने के लिये, प्रतिपादित विषय को उपक्रम से लेकर उपसंहार तक शान्ति से सुनना आवश्यक है। ऐसा करने पर संशय नहीं होंगे।"

इस प्रकार गुरुजी ने शंकर के संशयों को दूर किया, और फिर विषय को आगे बढ़ाते हुये कहा, "लौकिक अर्थ को बताने वाले वाक्य पौरुषेय होते

हैं। उनमें अविद्यमान को विद्यमान की तरह (माया), विद्यमान को अविद्यमान की तरह (अलीक) दर्शाया जाता है। कभी-कभी तो असत्य या छल के लिये अर्धसत्य (वंचना) भी प्रतिपादित किये जाते हैं। ये न हो तो भ्रम या प्रमाद रूपी दोष तो रहेंगे ही। ऐसा इसलिये है क्योंकि उनमें समग्र दृष्टि होना असाध्य है। परन्तु वेदवाक्य, जो प्रत्यक्षादि के अविषय अलौकिक अर्थों का बोध कराते हैं, उनमें ये दोष नहीं होते क्योंकि ये वाक्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, जिसमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अन्तर्गत हैं, को ध्यान में रखकर कहे गये हैं। अतः वे अपौरुषेय ही हैं।"

प्रश्न :- "ऐसा है तो मनुष्यों को वेद कैसे प्राप्त होते हैं?"

उत्तर - ऐसे निर्दोष मन्त्र मन्त्रदृष्टाओं द्वारा नाद-स्वर-पद-वाक्य के रूप में व्यक्त होते हैं। वे द्रष्टा हैं, कर्ता नहीं।"

प्रश्न :- "मन्त्र दूसरों की स्मृति में क्यों नहीं आते?"

उत्तर - जो कोई भी हो, स्मरणसामर्थ्य तो पिछले जन्मों के कर्मानुसार ही होता है। जो केवल आहार-निद्रा-भय-मैथुन में प्रवृत्त रहते हैं, उनको उन्हीं की स्मृति होती है। किन्तु मन्त्रद्रष्टाओं को पिछले जन्मों में किये ये असाधारण वैदिक तप के कारण मन्त्रस्मरण का सामर्थ्य प्राप्त होता है।

इस प्रकार गोविन्द गुरु जी का अध्यापन कार्य आगे बढ़ता रहा। गुरुकुल में ही श्रौतस्मार्त कर्मों के अनुष्ठान को देखते हुये शंकर ने मन्त्र अर्थवाद इत्यादि के प्रामाण्य का निर्णय, कर्मभेद के कारण, कर्माधिकार इत्यादि विषयों से युक्त द्वादश अध्याय वाले मीमांसाशास्त्र का अति अल्प समय में ही अध्ययन कर लिया।

× × ×

गोविन्दभगवत्पाद जी ने उस ईश्वर नामक संवत्सर के कार्तिक मास की शुक्लपक्ष की एकादशी के दिन उषा काल में शंकर का क्रमसंन्यास करने का निश्चय किया। यह पता पड़ते ही सैकड़ों संन्यासी एवं धार्मिक जनों ने उस अभूतपूर्व प्रसंग को देखने की इच्छा से दो दिन पहले ही आकर ओंकारेश्वर के मन्दिरों एवं धर्मशालाओं में डेरा जमा लिया। बहुत से वैदिक कर्म करने वाले पुरोहितों ने भी आकर संन्यास स्वीकार से पहले किये जाने

वाले देवता–ऋषि–दिव्य मनुष्य–भूत–पितृ–मातृ–श्राद्ध, आत्मश्राद्ध और विरज होम अपने से ही कराने की प्रार्थना की। गोविन्द गुरु जी ने उनको यह कहकर वापिस भेज दिया कि ये सब कर्म तो विविदिषा संन्यास में ही करने आवश्यक होते हैं और शंकर तो पहले ही आपत्संन्यास ले चुका है।

तत्पश्चात् गोविन्द गुरुजी की परिचित एक वृद्धा साध्वी आयी और नमस्कार करके बोली, "गुरुजी! मैं शंकर के लिये दो कौपीन लायी हूँ। मैंने उनको गेरुए रंग से मिश्रित कोमल नारियल के जल में भिगोकर सुखाया है। उस जल में मैंने नींबू का रस और फिटकरी भी डाली थी। उससे उसका रंग नहीं उतरेगा। कृपया उसे हमारे शंकर को दे दीजियेगा।"

"वह तुम्हारा शंकर है, या हमारा शंकर है?" इस प्रकार विनोद करके गुरुजी ने कहा कि वे शंकर को दे देंगे।

कुछ ही समय बाद, एक दण्ड हाथ में लिये एक वृद्ध ने आकर गुरुजी को नमस्कार किया। "गुरुजी! मैं ईश्वर मन्दिर में सेवक हूँ। मेरा नाम रंकदास है। मैंने सुना है कि एकादशी के दिन हमारे शंकर संन्यासदीक्षा लेंगे। उस समय आप उनको दण्ड देंगे न? मैंने अर्चक से दण्ड कितना बड़ा होना चाहिये यह मालूम कर लिया है। ठीक उसी परिमाण में काटकर, दोनों किनारों को गोल करके लाया हूँ। यह नर्म है, साफ–सुथरा है। मेरी प्रार्थना है कि आप उसे यही दण्ड दीजियेगा" ऐसा कहकर उसने वह दण्ड गुरुजी के सामने रख दिया।

गुरुजी ने पूछा, "क्या तुम शंकर को जानते हो?"

"हाँ गुरुजी, अच्छी तरह जानता हूँ। जब वह मन्दिर आता है तो 'रंक जी अच्छे हो ना!', ऐसा कहकर मेरा कुशल पूछता है। कई बार मुझे अंगूर और केले लाकर देता है। हमारा शंकर तो भगवान् ही है गुरुजी!"

"बहुत अच्छा! तुमने दिया है यह बताकर उसे दे दूँगा। ठीक है?"

दीक्षा अगले दिन थी। उस दिन रात को सब शिष्य शंकर को घेरकर गपशप करने लगे। एक ज्येष्ठ शिष्य ने शंकर के सिर पर तीन वर्ष की आयु से वृद्धि को प्राप्त हुये काले गहरे केशों को छूकर पूछा, "शंकर! कल ये केश सब चले जायेंगे। क्या कहते हो?"

"अच्छा हुआ पीछा छूटा", शंकर ने कहा।

सब जोर से हँस पड़े। सब उसका स्पर्श करना चाहते थे, परन्तु स्पर्श करने से भयभीत थे। उसका व्यक्तित्व ही ऐसा था। फिर भी वे उसका स्पर्श करने का साहस करते। उनका भय उनकी अभिलाषा से पराजित हो जाता था। रात्रि इस प्रकार बीत गयी। उषाकाल में उठकर शंकर ने स्नान किया और आकर गुरु को नमस्कार किया। तदनन्तर गुरुजी की आज्ञानुसार क्षौरिक (नाई) ने शंकर के बाल काटकर उसे साष्टांग नमस्कार किया।

"तुम्हारा नाम क्या है?" शंकर ने उससे पूछा।

"गोविन्दा।"

"सुखी रहो" शंकर ने उसे आशीर्वाद दिया। क्षौरिक ने श्रद्धापूर्वक बालों को अपने नेत्रों से लगाया फिर उनको जहाँ किसी के पैर नहीं पड़ते थे ऐसी जगह गड्डा खोदकर दबा दिया और मिट्टी से ढंक दिया। स्नान करने के लिये शंकर नदी में उतरा। स्नान समाप्त करके वह नदी में ही खड़ा रहा और गुरुजी की ओर देखा। उनके निर्देशानुसार "ऊँ भू: संन्यस्तं मया, ऊँ भुवः संन्यस्तं मया, ऊँ सुवः संन्यस्तं मया, ऊँ भुर्भुवस्सुवः संन्यस्तं मया" इस प्रकार मन्द, मध्यम और उच्च स्वरों में तीन बारी उच्चारण करके जल छोड़कर संकल्प किया। फिर गुरुजी ने शंकर द्वारा "पुत्रेषणा वित्तेषणा लौकेषणा मया परित्यक्ता। अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा" ऐसा कहलवाकर संकल्पजल छोड़ देने के लिये कहा। जल उसी प्रकार दिया गया। बाद में नग्न ही नदी से बाहर आकर शंकर गुरुजी के समीप खड़ा हो गया। गुरुजी ने कौपीन देकर उसे धारण करने के लिये कहा और बताया कि उस वृद्धा ने दिया है। फिर पहनने के लिये गेरुए वस्त्र दिये। तत्पश्चात् प्रणवमन्त्र का उपदेश करके, "रंकदास ने दिया है", ऐसा कहकर शंकर को दण्ड दिया। भस्म धारण करके, दण्ड और कमण्डलु लेकर बालक शंकर शंकरभगवत्पाद हो गया। उसी क्षण गेरुए वर्ण का सूर्य उदित हुआ। ज्ञानसूर्य का उदय हुआ। मन्दिर के घण्टे, शंख, नगाड़े इत्यादि सभी बज उठे। मुमुक्षुओं की दायीं आँख और दुमर्तियों की बायीं आँख फड़कने लगी। एकत्रित जनसमूह में असाधारण उत्साह का संचार हो आया। सबने एक कण्ठ से उद्घोष किया, "सनातन धर्म की जय हो।"

× × ×

उसी दिन दोपहर को गुरुजी ने ब्रह्मसूत्र का पाठ आरंभ किया। "आज मैं तुम्हें उपनिषदों का सार बताना चाहता हूँ। वह प्रत्येक को प्रतिदिन प्राप्त होने वाले अनुभव पर ही आधारित है। इसलिये उसे सरल भाषा में समझाया जा सकता है। पहले तुम इस ढंग से समझ लो, बाद में इसे शास्त्रीय चर्चा द्वारा ग्रहण करना सरल हो जायेगा।"

"चाहे मनुष्य कितना भी प्रयत्न क्यों न करे उसके दु:ख का परिहार और सुख की प्राप्ति नहीं होती। 'ऐसा क्यों?' पूछा जाये तो उपनिषद् इस प्रकार समझाते हैं, 'क्योंकि तुम नहीं जानते कि तुम कौन हो। अगर तुम समझ जाओ कि तुम कौन हो तो लेशमात्र भी दु:ख तुम्हें नहीं हो सकता। तुम आनन्द के सागर ब्रह्म हो।"

"लेकिन मैं तो जानता हूँ कि मैं कौन हूँ। मेरा नाम शंकर है। मैं दस वर्ष का हूँ। मैं एक संन्यासी हूँ।"

"कल रात तुम कहाँ सोये थे?"

"मन्दिर के एक कोने में।"

"क्या सपना देखा?"

"मैंने सपना देखा नर्मदा को पार करके पर्वतों पर उड़ रहा हूँ।"

"अब बताओ, तुम मन्दिर में सोये शंकर हो या जो पर्वतों पर उड़ रहा था वह व्यक्ति हो?"

"स्वप्नावस्था में मेरा शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं था, किन्तु मन के साथ सम्बन्ध था। इसलिये ऐसा स्वप्न देख सका।"

"उसके बाद गहरी नींद आयी या नहीं?"

"आयी।"

"उस गहरी नींद में तुम कौन थे बताओ?"

"नहीं जानता।"

"सोच-विचारकर बताओ।"

"उसके बारे में विचार करना भी संभव नहीं है।"

"क्यों संभव नहीं है?"

"उस समय मेरा शरीर से सम्बन्ध नहीं था, मन के साथ भी सम्बन्ध नहीं था। इसलिये, उस समय मैं कौन था यह चिन्तन संभव नहीं है।"

"इसका अर्थ क्या है तुम ही देखो। शरीर और मन दोनों का सम्बन्ध रहने पर तुम वह थे जो मन्दिर में सो रहा था। केवल मन का सम्बन्ध रहने पर तुम वह थे जो पर्वतों पर उड़ रहा था। परन्तु दोनों का सम्बन्ध न रहने पर तुम कौन हो यह तुम नहीं जानते। केवल इतना ही जानते हो कि तब शरीरादि के साथ सम्बन्ध नहीं रहता। सुनो, मैं बताता हूँ कि उस समय तुम कौन थे। शरीर और उसमें स्थित इन्द्रियाँ, मन, प्राण ये सब मिलकर क्षेत्र कहलाते हैं। इसके ज्ञाता तुम क्षेत्रज्ञ हो। क्षेत्र तुम्हारा विषय है। ज्ञाता ज्ञात विषय से भिन्न ही होता है। वही तुम मन का सम्बन्ध रहने के कारण स्वप्न को जानते हो। मन और शरीर के सम्बन्ध से जगत् को जानते हो। गाढ़निद्रा में तुम एकमात्र ही होते हो। वही है तुम्हारा वास्तविक स्वरूप। उपनिषद् ऐसे तुमको ब्रह्म कहते हैं।"

"ब्रह्म क्या है?"

"वह इस सम्पूर्ण जगत् का कारण है, वैसे ही जैसे स्वर्ण आभूषण का कारण होता है। आभूषण कार्य है। वह उत्पन्न होता है, बदलता रहता है और नष्ट हो जाता है। इस प्रकार परिवर्तनशील आभूषण असत्य है। परन्तु स्वर्ण नहीं बदलता, इसलिये वह सत्य है। उसी प्रकार जगत् असत्य है, ब्रह्म सत्य है। यह ब्रह्म का पहला लक्षण है। आभूषण के दृष्टान्त द्वारा ही ब्रह्म का दूसरा लक्षण जाना भी जा सकता है। आभूषण अलग-अलग होते हैं, एक में दूसरा नहीं होता। एक-एक की सीमा होती है, अन्त होता है। परन्तु स्वर्ण तो सब आभूषणों में व्याप्त है, अर्थात्, आभूषणों में विद्यमान अन्तत्व स्वर्ण में नहीं है। अतः वह अनन्त है। उसी प्रकार जगद्वस्तुओं का अन्त होता है ब्रह्म का नहीं। वह अनन्त है। यह ब्रह्म का द्वितीय लक्षण है। अब तृतीय लक्षण के लिये अपनी बुद्धि को ही देखो। वह भी ब्रह्म का कार्य ही है। उससे (बुद्धि से) तुम विषयों को जानते हो। बुद्धि में 'अँगूठी का', कंगन का', 'हार का' इस तरह का ज्ञान उत्पन्न होता है। ये सब ज्ञान असत्य और सान्त हैं। परन्तु इन सब ज्ञानों में अन्तर्भूत जो ज्ञानमात्र है वह सत्य है, अनन्त है। यह ब्रह्म का तृतीय लक्षण है। बुद्धिसम्बन्ध रखकर जो ज्ञान प्राप्त होता है वह असत्य

होता है। उसके बिना तुम सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म होते हो। वही तुम्हारा निजस्वरूप है। वहाँ जो आनन्द है वह सहज होता है, विषयों की अपेक्षा नहीं रखता। वहाँ दुःख नहीं होता। अतः 'मैं वह ब्रह्म हूँ, शरीरादि नहीं, इस तरह दृढ़ अवगति होने पर हमेशा उस आनन्द में ही रहोगे। इसका मनन करते रहो। कल इसी विषय को जब मैं शास्त्रभाषा में कहूँगा, तो तुम सरलता से समझ सकोगे।"

अगले दिन पाठ आरंभ करने से पूर्व गुरुजी ने पूर्वमीमांसा की समीक्षा करते हुये कहा "इस लोक और परलोक के भोगों की प्राप्ति के लिये धर्मजिज्ञासा होती है। सभी सांसारिक सुख क्षणिक हैं, नगण्य हैं, अशुद्ध हैं, दुःख से मिश्रित हैं, श्रमसाध्य हैं, अनेक दोषों से युक्त हैं। स्वर्गादि सुख भी अनित्य ही हैं। कामीजन इनमें ही मग्न रहते हैं जबकि विवेकीजन नित्य, निर्दोष, आत्यन्तिक सुखरूपी मोक्ष को चाहते हैं। यह सुख उत्पाद्य नहीं है–अर्थात् एक घट की तरह इसका उत्पादन नहीं किया जा सकता। आप्य नहीं है–अर्थात् कहीं और जाकर प्राप्त नहीं किया जा सकता। विकार्य नहीं है–अर्थात् दूध जिस तरह दही में परिवर्तित होता है उस प्रकार किसी को परिवर्तित करके नहीं प्राप्त किया जा सकता। संस्कार्य नहीं है–अर्थात् जैसे औषधियों में गुण जोड़े जाते हैं या दोष निकाले जाते हैं इस तरह किसी का संस्कार करके प्राप्त नहीं किया जा सकता। वह सर्वदा ही हममें विद्यमान है। किन्तु अज्ञान के कारण अनुभव में नहीं आता। यह बात सुनकर लोग आश्चर्य करते हैं। लेकिन यह कितनी सरलता से समझ आ सकता है देखो:

सुषुप्ति में जीव का स्थूल और सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता और अत्यधिक आनन्द का अनुभव होता है यह सबका अनुभव है। उस समय जो सुख से सोया हुआ होता है वही क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्षेत्र का ज्ञाता है। शरीर ही क्षेत्र है। आनन्द क्षेत्रज्ञ का स्वभाव होता है। यह अनुभव होने पर भी, नींद से उठते ही जाग्रदवस्था में यह भूलकर, शरीर यानि क्षेत्र के साथ अविद्यमान सम्बन्ध की कल्पना करके, अपने को स्त्री, पुरुष इत्यादि मानते हुये सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगता है। इस प्रकार अविद्यमान सम्बन्ध की जो क्षेत्रज्ञ में कल्पना की जाती है उसे अध्यास कहते हैं। अपने आपको गलत समझना ही अध्यास है। वह अज्ञान, जिसके कारण क्षेत्रज्ञ 'मैं कौन हूँ' यह

नहीं जान पाता, ही अध्यास का कारण है। 'सुषुप्ति में मैं कौन था? कहाँ था? यह नहीं जानते हुये मैं सुख से सोता रहा ऐसा कहकर सब उठने के बाद अपना अज्ञान ही बताते हैं। स्वयं कौन है यह यदि जान लेता है तो अज्ञान नष्ट हो जाता है। तब अध्यास भी नष्ट हो जाता है। प्रत्यक्ष देखकर या बुद्धि द्वारा अनुमान लगाकर 'क्षेत्रज्ञ मैं कौन हूँ' यह नहीं जान सकता। सुषुप्ति में ज्ञानेन्द्रियों और बुद्धि का प्रवेश ही नहीं है। अतः, यह वेदों द्वारा ही जाना जा सकता है।

वेद बताते हैं कि क्षेत्रज्ञ ब्रह्म है। ब्रह्म कौन है इसका निश्चय ब्रह्मसूत्र वेद के आधार पर करते हैं। अतः वेदान्तशास्त्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र से प्रारंभ होता है। अतः - क्योंकि सांसारिक और पारलौकिक सुख अनित्य हैं इसलिये; अथ-विवेक वैराग्यादि की प्राप्ति के बाद; ब्रह्मजिज्ञासा–ब्रह्म को जानने की इच्छा करनी चाहिये, अर्थात् ब्रह्म के विषय में विचार करना चाहिये। यह ब्रह्म जगत् के द्वारा ही जाना जा सकता है; क्योंकि जगत् ब्रह्म का कार्य है। ब्रह्म से ही जन्म लेकर, ब्रह्म में ही रहते हुये, ब्रह्म में ही लयरूप विकार को प्राप्त होता है। दूसरा सूत्र- 'जन्माद्यस्य यतः' यही बताता है। अस्य- इस जगत् का; जन्मादि जन्म, स्थिति और लय; यतः–जिससे वह ब्रह्म। इसका अर्थ है कि ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण भी है और उपादानकारण भी। ब्रह्म का स्वरूप इस वाक्य से निश्चित होता है।"

"निश्चय करने का क्रम इस प्रकार है। घट का निमित्त कुम्हार है और उपादान मिट्टी है। पहले उपादानत्व को देखो। घट, ईंट, खपरैल आदि मिट्टी के विकार हैं- वे बनते हैं और बिगड़ते हैं; अर्थात्, परिवर्तनशील हैं। किन्तु मिट्टी नहीं बदलती, वह एकरूप ही रहती है। जो नहीं बदलता उसे सत्य कहते हैं और जो बदलता है उसे असत्य कहते हैं। अतः घट इत्यादि असत्य हैं। मिट्टी सत्य है। उसी प्रकार, जगत् असत्य है और उसका उपादान ब्रह्म सत्य है।"

"ब्रह्म का एक और लक्षण है अनन्तत्व, अर्थात् ब्रह्म अन्त से रहित है परिसीमित नहीं है। इसका निश्चय इस प्रकार होता है; घट खपरैल नहीं है और खपरैल घट नहीं है। दोनों की सीमा है। परन्तु मिट्टी इन दोनों में व्याप्त है इसलिये इनकी तरह सीमित नहीं है। इसी प्रकार, जगत् की सभी वस्तुओं

की कोई न कोई सीमा होती है। परन्तु सदा सबमें व्याप्त ब्रह्म की सीमा नहीं है। अतः, ब्रह्म अनन्त है।"

"ब्रह्म का तीसरा लक्षण है ज्ञान। इसका निश्चय इस प्रकार होता है। जिस प्रकार कुम्हार इच्छापूर्वक और विचारपूर्वक घट की सृष्टि करता है उसी प्रकार हिरण्यगर्भ में प्रविष्ट ईश्वर इस जगत् की सृष्टि करता है। कुम्हार का घटज्ञान, खपरैलज्ञान आदि घट, खपरैल आदि के समान ही मिथ्या है, क्योंकि वे परिवर्तनशील हैं। लेकिन इन ज्ञानों में जो 'घट का', 'खपरैल का' इत्यादि विशेषणों से रहित विशेष्य ज्ञान है, वह सत्य है। इसी प्रकार, जगत् के निमित्तकारण में, उत्पन्न होने वाली जगद्वस्तुओं का विशेषज्ञान असत्य होने पर भी, उनमें विद्यमान विशेष्यज्ञान सत्य है। यही ज्ञान ब्रह्म का तृतीय लक्षण है।

इस प्रकार ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है। यहाँ जो चमत्कार है उसकी ओर ध्यान देना चाहिये। जगत् असत्य, जड़ और सान्त होने पर भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। किन्तु ब्रह्म जगत् से भिन्न है। यह वेदान्त का सारसर्वस्व है।"

"अब जीव के विषय में पहले जो कहा गया था उसे याद करो। जीव का वास्तविक स्वरूप जाग्रत और स्वप्न में नहीं पता पड़ता क्योंकि वह शरीर के साथ सम्बन्ध देखता है। उसका वास्तविक रूप सुषुप्ति में होता है। किन्तु उस समय उसको 'मैं कौन हूँ' यह ज्ञान नहीं होता, अज्ञान रहता है। 'मैं कौन हूँ' यह कैसे जाना जा सकता है? श्रुति से जाना जा सकता है। श्रुति के अनुसार उस समय 'मैं ब्रह्म हूँ'। परख कर देखो कि यह सही है या नहीं। सुषुप्ति में अपना किसी भी विकार या व्यवहार से सम्बन्ध नहीं होता, इसलिये किसी भी प्रकार के परिवर्तन के लिये अवसर नहीं होता। इसका अर्थ हैं कि 'मैं सत्य हूँ'। साथ ही उस समय विशेषज्ञान नहीं होता, फिर भी विशेष्यज्ञान तो रहता ही है। वह सत्य है, इसलिये उसका अभाव नहीं हो सकता। अतः, उस समय मैं ज्ञान भी हूँ। और उस समय अन्तत्व से सम्बन्ध रखने वाले देश-काल भी नहीं होते। अतः मैं अनन्त भी हूँ। इसलिये, ब्रह्म के तीनों लक्षण मुझमें ही हैं। इतना ही नहीं, श्रुति ब्रह्म का आनन्द इस प्रकार एक और लक्षण बताती है। वह भी सुषुप्ति में अनुभवगम्य है। अतः सुषुप्ति में विद्यमान अहं ब्रह्म ही है यह निश्चय होता है।"

शंकर ने पूछा, "तीनों लक्षण अपने में भी हैं, ब्रह्म में भी हैं, फिर भी मैं और ब्रह्म अलग–अलग हो सकते हैं न?"

"यह नहीं हो सकता, क्योंकि विशेष्यज्ञान दो नहीं हो सकते। उससे भिन्न कुछ भी होगा तो वह ज्ञेय ही होगा। अतः, क्षेत्रज्ञ ब्रह्म ही है, क्षेत्रज्ञ ही ब्रह्म है। 'जो मैं हूँ, यह वही है। जो यह है, वह मैं ही हूँ – 'योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्', ऐसा श्रुति कहती है। यह कहकर गोविन्दभगवत्पाद जी ने उपदेश समाप्त किया। इस सर्वोत्कृष्ट ज्ञान के कारण शंकर देहादि जगत् से पूर्णतया विमुख हो गया और अपनी आँखें बन्द करके बैठ गया। उसका शरीर निश्चल हो गया। श्वासक्रिया बन्द हो गयी। मुख पर अलौकिक कान्ति छा गयी। गुरुजी बहुत काल तक उसको देखते रहे। इस प्रचण्ड बालसंन्यासी को देखकर वे परम सन्तुष्ट हुये। बहुत देर बाद शिष्य का सिर सहलाकर वे बोले, "शंकर! उठो"। शंकर ने उठकर हाथ जोड़े और 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' इस मन्त्र का उच्चारण करके गुरु को साष्टांग नमस्कार किया। गुरुजी ने बालक को गले से लगा लिया।

× × ×

गुरुजी ने संकेत दिया कि उस बहुधान्य संवत्सर की चातुर्मास्य पूजा वर्ष शंकर ही करेंगे। यह पता पड़ते ही ओंकारेश्वर के सभी आश्रमों के संन्यासी और तपस्वी पूजा में भाग लेने की तैयारी करने लगे। सब शंकर द्वारा की जाने वाली पूजा को देखना चाहते थे। केवल इतना ही नहीं, उनको यह भय भी था कि चातुर्मास्य के बाद शंकर ओंकारेश्वर को त्याग देंगे। पूजा की व्यवस्था तथा सहस्त्रो जनों के भोजन की व्यवस्था मन्दिर की ओर से ही की गयी थी। सारी व्यवस्था वैभवपूर्ण चलने पर भी सबके मन में एक प्रकार की व्याकुलता थी। पूजा के समाप्त होने पर गोविन्द भगवत्पाद और शंकर को नमस्कार करके जनसमुदाय ने हिम्मत जुटा कर शंकर से पूछाः "गुरुवर! लोग कह रहे हैं कि चातुर्मास्य के बाद आप यहाँ से चले जायेंगे। क्या यह सच है?" "ऐसा क्या? मैं तो नहीं जानता", कहकर शंकर ने उनकी बात पर अपना आश्चर्य प्रकट किया। परन्तु लोगों को विश्वास नहीं हुआ।

वर्षा ऋतु प्रारंभ हुयी। छाते बाहर निकाले गये। सबके होंठों पर एक ही

बात थी: "हमें पता है कि यहाँ पर बहुत वर्षा होती है; इस बार तो लगता है कि बहुत ही भीषण पानी बरसेगा।" नर्मदा का जल स्तर बढ़ता जा रहा था। एक दिन दोपहर के समय मूसलाधार बारिश हो रही थी। भयंकर बिजली और बादल कड़क रहे थे, गायें 'अम्ब....अम्ब.....' क्रन्दन करती हुयी गोशालाओं की ओर दौड़ रही थीं। वृद्ध गोविन्दभगवत्पाद गुफा में थे। गुफा के अन्दर नदी के प्रवाह का गर्जन नहीं सुनायी पड़ता था। रात होते ही गुरुजी लेट गये। शंकर और अन्य शिष्य पास वाले मन्दिर में थे। वहाँ चर्चा चल रही थी: "नदी का जल ऊपर आ रहा है। सम्भव है कि गुफा में भी जल प्रवेश कर जाये। क्या करें? "कुछ ही देर बाद पच्चीस वर्षीय तीन शिष्यों के साथ शंकर नदी को देखने के लिये निकले। शाम का समय समाप्त होने को था; घने बादलों के कारण महान् अन्धकार छा गया था। घाट पर उतरते समय उन्होंने देखा कि पानी तीसरी सीढ़ी तक चढ़ आया था। यह स्पष्ट था कि जल अभी और चढ़ने वाला था। शंकर उन तीनों के साथ मन्दिर की ओर दौड़े। सभी शिष्य घबराकर उनको घेरकर खड़े हो गये। शंकर उन्हें सम्बोधित करते हुये बोले "बाढ़ बहुत तीव्रता से ऊपर आ रही है। शायद हम सो नहीं पायेंगे। सब जागरूक रहो। अगर खतरे की जरा भी संभावना हुयी तो मैं तुमको सूचित करूँगा। तुम्हें गुरुजी को उठाकर मन्दिर के चबूतरे पर उनके सोने की व्यवस्था करनी पड़ेगी। तुम में से कुछ मन्दिर में ही रहो। तुम तीन गुफा की दीवार के पास जाकर खड़े हो जाओ।" ऐसा कहते ही सबने अपनी धोतियाँ कसकर घुटनों के ऊपर बांध लीं। शंकर ने भी ऐसा किया और उन्हें निर्देश दिया कि कोई भी नदी की ओर न आये सब अपने-अपने स्थानों पर डटे रहें। फिर अपना दण्ड-कमण्डल उठाकर शंकर ने नदी की ओर प्रस्थान किया।

रात के साढ़े ग्यारह बजे थे और चारों ओर घुप्प अन्धेरा था। कभी-कभी बिजली कड़क उठती थी। उसके प्रकाश में शंकर ने देखा कि पूर्व से पश्चिम की ओर बहती नदी का जल दूसरी सीढ़ी तक पहुँच चुका था। शंकर उस विशाल सीढ़ी पर पूर्वाभिमुख होकर पद्मासन में बैठ गया और कमण्डल को अपने सामने स्थापित कर दिया। फिर आँखें बन्द करके पूरक से 'ओं भू: ओं भुव: ओं सुव: ओं मह: ओं जन: ओं तप: ओं सत्यम्, ओं तत्सवितुर्वरेण्यं

भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ओमापो ज्योतिरसो अमृत ब्रह्म भूर्भुवस्सुवरोम्' कहते हुये कुम्भक किया। सहस्त्रार से आरंभ करके प्रत्येक चक्र में व्यष्टि–समष्टि देवताओं का स्मरण करते हुये मूलाधार पहुँचकर रेचक किया। पुनः पूरक करके लयक्रम से मूलाधार से स्वाधिष्ठान आकर बुद्धि को पहले काकिनी में स्थापित करके तत्पश्चात् कुम्भक करके फिर उसे वरुण में स्थिर करके समाधिस्थ हो गया। बस इतना ही।

× × ×

सुबह तक वर्षा धीमी पड़ चुकी थी। गुरुजी को उठा हुआ जान गुफा के बाहर खड़े शिष्य अन्दर आ गये।

"क्या वर्षा रुक गयी है?" गुरुजी ने पूछा।

"पूरी तरह बन्द तो नहीं हुयी है परन्तु कम हो गयी है।"

"शंकर को बुलाओ"

"वह नदी पर गया है। मध्यरात्रि में हमें आपके पास छोड़कर वह अपना कमण्डल और दण्ड लेकर नदी पर चला गया और साथ में यह भी कहा कि कोई भी नदी की ओर मत आना। रात भर मूसलाधार वर्षा होती रही।"

यह सुनते ही व्याकुल गुरुजी बाकी शिष्यों के साथ नदी की ओर गये। वहाँ उन्होंने एक अद्भुत दृश्य देखा। शंकर समाधि में थे; उनके सामने उनका कमण्डल था। सामने से बाढ़ का भीषण प्रवाह आ रहा था परन्तु उसके पीछे सबकुछ शान्त था। यह क्या रहस्य था जब वे जानने के लिये पास गये तो मन्द प्रकाश में उन्होंने देखा कि अगस्त्य के मुख के समान शंकर का कमण्डल बाढ़ के प्रवाह को निगल रहा था। वशिष्ठ के ब्रह्मदण्ड के समान, जिसने कौशिक के ब्रह्मास्त्र सहित सब अस्त्रों को ग्रस लिया था, शंकर का कमण्डल भी बाढ़ के भीषण प्रवाह को निगल रहा था। शान्त हुयी नदी शंकर की नाभि के स्तर पर बह रही थी। शंकर तो बाह्यप्रज्ञा से रहित थे। गुरुजी ने उसे उठाया नहीं; उन्होंने स्नान करके नर्मदा देवी को नमस्कार किया और शिष्यों को बोले, "कोई उसे मत उठाना। ध्यान रखो कोई उसके पास न जाये। सूर्योदय होते ही वह स्वयं उठ जायेगा।" इतना कहकर गुरुजी चले गये।

शिष्यों ने भी गुरुजी का अनुसरण किया। सब शिष्य समझ चुके थे कि शंकर एक महान् सिद्ध पुरुष हैं। जो भक्ति उनमें अपने गुरु के प्रति थी, वही भक्ति अब शंकर के प्रति भी जाग उठी। अब उन्हें शंकर को एकवचन में सम्बोधित करने में भय लगने लगा। उन्होंने बहुवचन का आश्रय लिया। 'तुम' अब 'आप' बन गया। गुरुजी की तो खुशी का ठिकाना नहीं रहा। यह बड़ी सन्तुष्टि का विषय था कि उनकी दी हुयी विद्या सफल हुयी थी। यह स्पष्ट था कि शंकर का अवतार लोकोद्धार के लिये हुआ था।

कुछ दिनों बाद की एक रात। गुरुजी की शयनव्यवस्था करके, उन्हें नमस्कार कर फिर स्वयं जाकर सोने का शिष्यों का नियम था। उस रात भी ऐसा ही था। अन्त में सोने को तैयार शंकर ने आकर गुरुजी को नमस्कार किया। गुरुजी ने पूछा, "नींद आ रही है या कुछ देर बैठ सकते हो?"

"नींद नहीं आ रही है; बैठता हूँ।" शंकर ने उत्तर दिया।

"शास्त्रपाठ समाप्त हो चुका है, कुछ शेष नहीं रह गया है। मैंने तुम्हें शास्त्रचर्चा के लिये नहीं रोका है। परन्तु कुछ और विषयों की चर्चा करने का समय अब आ गया है। गुर्जरदेश से व्यासपूजा के लिये यात्री आये थे। उन्होंने जो बताया उससे मैं बहुत व्याकुल हूँ। यह आने वाली विपत्ति की पूर्वसूचना है। यहाँ से दक्षिण दिशा में स्थानक नाम का एक नगर है। डेढ़ सौ वर्ष पूर्व नौकाओं से आये अरबों ने उस पर आक्रमण किया था। उस समय कावेरी से लेकर नर्मदा तक चालुक्य के पुलिकेशी द्वितीय का साम्राज्य था। उसने अवनिजाशय पुलिकेशी नामक एक व्यक्ति को दक्षिण गुर्जर देश के नवसारिका नगर के माण्डलिक के तौर पर नियुक्त किया था, जिसने बड़ी वीरता से अरबों को खदेड़ दिया। हाल में, मेरे बचपन के समय, मीरखासीं नामक एक अरब ने सिन्धुदेश पर आक्रमण किया। वहाँ महाराज हर्ष द्वारा पोषित बहुत से बौद्ध थे। उन्होंने मीरखासीं की सहायता की। राजा धीर युद्ध में मारे गये। पचास वर्षों तक अरबों ने लोगों पर अमानवीय अत्याचार किये। बाद में हुये युद्धों में उन्हीं को पीछे हटना पड़ा। देश के पश्चिमी भाग में धर्म तीव्रता से अवनति की ओर जा रहा है। इस सबका मूलकारण बौद्ध ही है। हालांकि उनका बल अब बहुत न्यून है, तो भी अभी बचा हुआ है।"

"राजा लोग सेना के बल से आक्रमण करके देशों को अपने अधीन

करते हैं; परन्तु बुद्ध ने कैसे इतने लोगों को अपने वश में कर लिया?" शंकर ने पूछा।

"यह कैसे होता है देखो। धर्म में आस्था रखना मनुष्य का स्वभाव है। इसलिये अपौरुषेय सनातन वैदिकधर्म लोगों में दृढ़ता से स्थित है और भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले लोग परस्पर विश्वास और प्रेम से शान्तिपर्वूक साथ-साथ रहते हुये सन्तुष्ट जीवन बिताते हैं। ऐसा इसलिये संभव है क्योंकि वैदिक धर्म में सभी धर्म निहित हैं। जब वैदिकधर्म अवनति पर होता है तब कुछ लोग, जिन्हें अपनी बुद्धि पर अधिक विश्वास होता है, अपने अनुमान पर ही आधारित कुछ सिद्धान्तों को लोगों के सामने रखते हैं। जो लोग वैदिकधर्म से भली-भांति परिचित नहीं होते वे उनके वचनों से प्रभावित होकर मुग्ध हो जाते हैं। ये लोग नहीं समझ पाते कि वे सिद्धान्त एकदेशीय हैं। ऐसे अनुयायी अन्य सिद्धान्तों के प्रति असहिष्णु होते हैं। वे किसी प्रकार की चर्चा करने को राजी नहीं होते बस किसी भी प्रकार अपने धर्म को बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। हिंसक पशुओं के समान वे उनको मारने से भी नहीं झिझकते जो अपना मतपरिवर्तन नहीं करते। अगर वे अपना लक्ष्य इस प्रकार नहीं पूरा कर पाते तो छल-कपट द्वारा भी लोगों का धर्मपरिवर्तन कराने से नहीं चूकते। इससे सर्वत्र अशान्ति फैल जाती है। इस समय यही हुआ है। किन्तु सनातन वैदिकधर्म ऐसा नहीं है। वह अपौरुषेय है। चूंकि सभी मतों का उसमें समावेश है इसलिये संघर्ष का कोई अवसर ही नहीं पैदा होता परन्तु अगर उसपर कोई संघर्ष थोपता है तो उसके दमन की व्यवस्था भी वैदिकधर्म में है।"

"अत: इस वैदिकपरम्परा की समग्रदृष्टि मन में रखकर परिस्थिति को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये। राक्षसी प्रवृत्ति के लोग सदा रहते ही हैं, इसलिये यह काम भी सदा चलते ही रहना चाहिये। इसमें प्रमुख पात्र ब्राह्मणों और क्षत्रियों का है। राजा के पास धैर्य, पराक्रम के साथ-साथ शत्रु-मित्र के बल-अबल का विवेचन करने का सामर्थ्य भी होना चाहिये। इसके अलावा वर्तमान स्थिति में जो करणीय है उसका निश्चय करने वाली सूक्ष्म एवं तीव्र बुद्धि तथा दूरदर्शिता भी होनी चाहिये। ब्राह्मणों में त्याग, तप, विद्या, मैत्रीभाव आदि गुण अपेक्षित हैं। लोगों के योगक्षेम के प्रति दोनों में निष्ठा होनी

चाहिये। चन्द्रगुप्त एवं विक्रमादित्य जैसे राजाओं ने अपने क्षात्रतेज के बल पर ऐसे कार्य सम्पन्न किये। परन्तु वह तेज अब शिथिल पड़ गया है। उसको फिर दृढ़ करना है। कुमारिल भट्ट जैसे ब्राह्मण अपने दायित्व का पालन करते हुये सक्रिय हैं। उनके प्रयत्न प्रशंसनीय हैं। किन्तु यह कार्य इससे भी व्यापक स्तर पर होना चाहिये। धर्म की समग्रदृष्टि को मन में रखकर चारों वर्णों के लोगों में धर्मजागृति पैदा करनी चाहिये। तभी व्यक्तिनिष्ठ मतों का प्राबल्य क्षीण होगा। इस महान् कार्य को आधार देने के लिये विद्वानों में बादरायण ब्रह्मसूत्रों के द्वारा उपनिषदों का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिये। इसके आधार पर ब्राह्मणों का अपनी–अपनी योग्यता के अनुसार उपासना, श्रौत–स्मार्त आदि कर्म करने का मार्ग सुगम हो जाता है। इनके तप के प्रभाव से सामान्यजन भी धर्मनिरत हो जाते हैं। 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः।' चारों वर्णों के लोग एक ही मंच पर पुराणश्रवण करें – मन्दिरों के उत्सवों में एक साथ भाग ले– तीर्थयात्राएँ करें– पर्वों पर नदी–समुद्रों में स्नान करें– ऐसे कार्यक्रमों की व्यवस्था की जाये तो सबके मन में 'हम एक ही परिवार के सदस्य हैं' ऐसा भाव उत्पन्न होता है। इसको ध्यान में रखते हुये, मन्दिरों में, विशेषकर तीर्थों में, यथोचित संगठन होना चाहिये। कुल मिलाकर भगवान में भक्ति और वेदोक्त धार्मिक आचरण को चारों वर्णों में स्थापित करना चाहिये। तुम इस महान् कार्य का निर्वहन करो। तुम्हारा अवतार इसी के लिये हुआ है। अतः, तुम प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखो। विद्वानों के साथ सम्भाषण करो। सम्भाषण समाप्त होने पर 'हम वाद में पराजित हुये हैं' ऐसा भाव किसी के मन में नहीं आना चाहिये; बल्कि, उनमें धन्यताभाव का संचार होना चाहिये कि 'हमें सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ'। उनके हृदयों को जीतो। अविरत रूप से संचार करते रहो। मार्गशीर्ष मास के प्रारंभ होते ही यात्रा शुरू कर दो। इस समय सिन्धुदेश जाना उचित नहीं है; वहाँ मत जाओ।"

"सौराष्ट्र जाओ और वहीं सिन्धुदेश की परिस्थिति मालूम करो। उसके बाद काशी जाना। इस कार्य के निर्वहण के लिये तुम्हें आवश्यक आयु और आरोग्य प्राप्त हो।"

शंकर ने "भगवन्! आपके आशीर्वाद से हीं मैं इस कार्य को करने में समर्थ हो सकता हूँ। मुझे आशीर्वाद दीजिये", ऐसा कहकर नमस्कार किया।

• • •

अध्याय तीन

ओंकारेश्वर से सोमनाथ

अगले दिन गुरुजी ने सौराष्ट्र में अपने भक्तों को यह सन्देश भेज दिया कि शंकर सोमनाथ के लिये प्रस्थान कर चुके हैं। यह निश्चय किया गया कि शंकर अपनी यात्रा मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष की तृतीया को भिक्षा के बाद आरंभ करेंगे। कुछ ही क्षणों में यह समाचार आग की तरह चारों ओर फैल गया। शंकर के साथी ब्रह्मचारियों को तो असह्य वेदना हुयी। उस दिन मन्दिर की ओर से शंकर के प्रस्थान के उपलक्ष्य में एक समारोह का आयोजन किया गया तथा ओंकारेश्वर के समस्त साधु और तपस्वियों के लिये भव्य भोज का प्रबन्ध किया गया। सभा में मन्दिर के अध्यक्ष ने कहा–

"यह हमारा सौभाग्य है कि परमपूज्य गोविन्दभगवत्पाद जी ने अपनी वृद्धावस्था में हमारे गाँव को निवास के लिये चुना। अनेक शिष्य उनका प्रिय कार्य धर्मोत्थान करने के लिये परिव्राजक के रूप में संचार कर रहे हैं। उन सबमें मुकुटमणि आबालवृद्धप्रिय हमारे शंकर भगवत्पाद जी भी उसी कार्य के लिये हमसे विदा ले रहे हैं। अब तक जो हम सबका दिल जीत चुके हैं, वह आने वाले दिनों में भारत के प्रत्येक जन का दिल जीत लेंगे इसमें कोई सन्देह नहीं है।"

अध्यक्ष के भाषण के बीच में ही कोई जोर से चिल्ला उठा, "हमारे शंकरभगवत्पाद की", जिसके उत्तर में वहाँ उपस्थित जनसमूह ने भावावेश में एक साथ कहा, "जय हो! जय हो!"

अध्यक्ष ने फिर अपना भाषण जारी रखते हुये कहा, "हमारे आदरणीय शंकर को भगवान् दीर्घायु और आरोग्य प्रदान करे। मैं...मैं....मैं...", इस प्रकार कुछ भी बोलने में असमर्थ हो वह फूट–फूटकर रोने लगे। सभा में सब आँसू बहाने लगे।

शंकरभगवत्पाद खड़े होकर बोले, "परमप्रिय बन्धु! मैं आपको एक स्तोत्र सिखाता हूँ, मेरे साथ बोलिये, 'गोविन्दं परमानन्दं....'।" सबने भावपूर्ण होकर स्तोत्र का पाठ किया।

"मैं नहीं जानता कि क्या पुण्य कर्म थे जो मुझे ओंकारेश्वर ले आये। यहाँ मुझे परमपूज्य, ब्रह्मविदों में वरिष्ठ, वात्सल्यपूर्ण गुरु प्राप्त हुये। मेरा जीवन पावन हो गया। तीन वर्षों तक आपने मेरा बहुत ध्यान रखा और प्रेम दिया। मैं आपका सदैव ऋणी रहूँगा। मैं ओंकारेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि आप में से एक-एक को निर्बाध सुख और शान्ति प्राप्त हो। मुझे यहाँ से जाना है, कृपया अनुमति दीजिये।" इतना कहकर शंकरभगवत्पाद बैठ गये। उसके बाद भोजन हुआ।

जाने के लिये तैयार शंकर ने गुरु को नमस्कार किया। उनका सिर सहलाते हुये गुरुजी ने उन्हें विदा किया। जब शंकर हाथ में दण्ड और कमण्डल लिये चलने के लिये तैयार हुये तो लोगों के सब्र का बांध टूट गया और विरह-वेदना न सह सकने के कारण वे उनके पीछे-पीछे चलने लगे। शंकर चलते जा रहे थे, लोग उनके पीछे दौड़ रहे थे, फिर भी वे उन तक पहुँच नहीं पा रहे थे। यह सभी के लिये है। कोई शायद उनकी गयी दिशा में जा तो सकता है; परन्तु उन तक पहुँच नहीं सकता।

लगभग तीन वर्ष पूर्व शंकर घर छोड़कर अकेले ही कालड़ी से निकल पड़े थे। अब एक बार फिर वे अकेले ओंकारेश्वर से निकल पड़े। अन्तर इतना ही था कि उस समय वह आठ वर्ष का बालक था जिसे पता नहीं था कि वह कहाँ जा रहा है। अब वह बारह वर्ष का है और सोमनाथ जाने के लिये निकला है जहाँ सैकड़ों लोग उसके स्वागत में प्रतीक्षा कर रहे हैं। कहीं भी न रुकते हुये, लगातार चलते हुये वह दो सप्ताह के भीतर नवश्री नामक शहर पहुँच गये। वहाँ सोमनाथ के लोग उनकी प्रतीक्षा में खड़े थे। उन्होंने बताया कि पैदल जाने में बहुत समय लगेगा इसलिये समुद्र पार करने के लिये नौका का प्रबन्ध किया गया है। सोमनाथ पहुँचते-पहुँचते दोपहर हो गयी। शंकर ने स्नान करके सोमनाथेश्वर के दर्शन किये। तत्पश्चात् भिक्षा हुयी। शाम को चार बजे एक सभा का आयोजन किया गया। मन्दिर के अध्यक्ष ने ही सभा की अध्यक्षता संभाली। उन्होंने शंकर से पूछा, "इतनी लम्बी यात्रा से आप थक गये होंगे?"

शंकर ने उत्तर दिया कि उनकी यात्रा सुखद और आरामदायक थी। फिर अध्यक्ष महोदय ने गोविन्द गुरु का कुशल क्षेम पूछा। शंकर ने उत्तर

दिया, "पहली वाली अवस्था तो नहीं रही है फिर भी उनका स्वास्थ्य ठीक है।"

तत्पश्चात् अध्यक्ष ने सभा को सम्बोधित किया: "हमारे गुरु परमपूज्य गोविन्दभगवत्पाद का स्मरण करके मैं कुछ शब्द कहूँगा। हमारे पास उपस्थित ये बालगुरु शंकरभगवत्पाद हमारे गुरु के ही शिष्य हैं। इन्होंने तीन वर्ष उनके निकट शास्त्राध्ययन करके उनसे संन्यासदीक्षा प्राप्त की है। गुरुजी की आज्ञा से ये यहाँ आये हैं। मैं जब उनके दर्शन के लिये गया था तब गुरुजी ने मुझे साक्षात् कहा था कि हमें इनके कार्य में सम्पूर्णतया सहयोग देना है। हमारे लिये इससे अधिक भाग्य की बात और क्या हो सकती है। अतः, मैं बालगुरु से प्रार्थना करता हूँ कि हमें बतायें कि क्या करना है।" इतना कहकर अध्यक्ष अपने स्थान पर बैठ गये।

"क्या करना है इसका निश्चय बाद में करेंगे। पहले मैं आप सबका परिचय प्राप्त करना चाहता हूँ। गुरुजी ने बताया है कि विदेशी लोग सिन्धुदेश पर आक्रमण करके वहाँ की जनता पर अत्याचार न रहे हैं। मैं आपसे इसका विवरण लेना चाहता हूँ।" शंकर ने कहा।

अध्यक्ष ने कहा, "यहाँ उपस्थित ऊर्जस्तम्भ, यज्ञेश्वर दीक्षित एवं देवशर्मा सिन्धुदेश के हैं। सात-आठ दशक पूर्व, शत्रुओं के अत्याचार सहने में असमर्थ इन्हें वहाँ से भागकर शरणार्थी बनना पड़ा। वे ही बताएँगे कि वहाँ उन्होंने क्या देखा।"

ऊर्जस्तम्भ ने बोलना आरंभ किया। "मैं तब दस वर्ष का था। मुहम्मद बिन कासिम नामक एक अरब ने पचास हजार सैनिकों के साथ हमारे देश पर आक्रमण किया।"[1]

उसके समाप्त करने से पहले ही यज्ञेश्वर दीक्षित ने कहना शुरू किया।

"ऊर्जस्तम्भ! तुम आरंभ से बताओगे कि क्या हुआ तभी गुरुजी स्थिति को स्पष्ट रूप से समझ पायेंगे। गुरुजी! सुनिये, कासिम हमारे देश पर आक्रमण करने वाला पहला व्यक्ति नहीं था। उसके आने के पचास साल पहले से ही अरब बार-बार आक्रमण करके हमारा धन लूटते रहे थे।[2] उनको सामान्य चोर समझते हुये हमारे राजाओं ने उन्हें गंभीरता से नहीं लिया। एक

बार उन्होंने सेना के साथ हमारे देश पर आक्रमण किया।[3] उस समय हमने उन्हें हराकर खदेड़ दिया। बाद में उस्मान नामक एक अरब ने देश पर आक्रमण किया। तब राजा चाचा ने उसे पराजित किया और उसके सेनापति को मार डाला।[4] इसके बाद कुछ समय तक शान्ति रही। फिर भी वे दूर–दराज के गाँवों पर आक्रमण करके वहाँ के भयभीत भोले–भाले लोगों को डरा–धमकाकर उन्हें अपने धर्म में परिवर्तित करते रहे। इनके बाद ही कासिम आया।

शंकर ने फिर ऊर्जस्तम्भ से अपना वृत्तान्त जारी रखने के लिये कहा। उसने बोलना आरंभ किया।

"मैं बता रहा था कि कासिम ने पचास हजार सैनिकों के साथ सिन्धुदेश पर आक्रमण किया। उस समय दाहिर नामक राजा था। वह एक ब्राह्मण था। तब बौद्धों की संख्या न्यून थी। जब कासिम देवल बन्दरगाह में उतरा, तब बौद्धों ने उनका स्वागत किया और कहा कि 'हम बौद्ध हैं वैदिक नहीं है। हम आपके शत्रु नहीं हैं। हमें नहीं मारियेगा।[5] कासिम ने कहा कि वह ऐसा करने के लिये तैयार है बशर्ते वे उसका साथ दें।[6] बौद्धों ने उसकी बात मान ली और उसकी हर प्रकार से सहायता की। उसको गुप्त मार्ग दिखाये और उसकी सेना को खाद्य सामग्री उपलब्ध करायी। उन्होंने अपने ही लोगों की मुखबिरी की और उनके रहस्य शत्रु पर प्रकट कर दिये। इतने द्रोह के बावजूद दाहिर ने ब्रह्मनगर में कासिम के साथ साक्षात् युद्ध किया।[7] दाहिर ने कुछ मुसलमान सैनिकों को अनुबन्धित (ठेके पर) कर रखा था। जब दाहिर के सामने एक मुसलमान आया तो उन्होंने दाहिर को छोड़ दिया और कासिम से मिलकर दाहिर के विरुद्ध ही युद्ध लड़ा। राजा दाहिर ने महान् पराक्रम का परिचय देते हुये रणभूमि में प्राण त्याग दिये। मुसलमान सैनिकों का नगर में प्रवेश हुआ तब रानी और महल की अन्य स्त्रियों ने अग्नि में प्रवेश किया (जौहर)।[8] परन्तु दाहिर की दो पुत्रियाँ सूर्या देवी और प्रमिला देवी सैनिकों के हाथ पड़ गयीं।[9] बाकी सबको मौत के घाट उतार दिया गया। वे बहुत सी स्त्रियों को उठा कर ले गये और उनको अपने भोग के लिये रख छोड़ा।[10] सिन्धुदेश के बहुत से नगरों को उन्होंने जलाकर भस्म कर दिया।"[11]

यज्ञेश्वर ने उसे टोकते हुये बीच में ही कहा, "राजा दाहिर के अनुबन्धित

सैनिक मुसलमान थे। उनका दाहिर से द्रोह स्वभाविक है क्योंकि वे स्वयं भी विदेशी थे तथा धर्म से अनभिज्ञ थे। उनपर विश्वास करके उन्हें सेना में शामिल करना हमारा ही दोष था। परन्तु बौद्ध, जो कि हमारे अपने लोग ही हैं, क्या उनके द्वारा शत्रुओं का साथ देना उचित था? हमने तो उनके धर्माचरण में कभी कोई विघ्न नहीं डाला।"

शंकर ने कहा, "इसकी चर्चा कुछ देर में करेंगे। पहले मेरी एक शंका का निवारण करो। बौद्धधर्म उस समय व्यापक था, परन्तु इस समय इतना व्यापक नहीं है। इसका क्या कारण है?"

देवशर्मा ने अपनी राय दी, "इसका कारण, जैसा मेरे पुरखों द्वारा बताया गया है यह है कि बौद्ध शुरू से ही देशद्रोही रहे हैं। आज तक किसी ने बौद्धों के देशप्रेम के विषय में नहीं सुना है। एक हजार वर्ष पहले भी उन्होंने हमारे देश पर आक्रमण करने वाले ग्रीकों की सहायता की थी।[12] उनको हमारा देश, हमारी जाति, हमारा राष्ट्र, इस प्रकार का अभिमान कभी नहीं रहा है। वे 'एक विश्व' 'सम्पूर्ण मानवता' इत्यादि ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तों की बात करते हैं और अपने आपको 'विश्व नागरिक' कहते हैं परन्तु हमारे समाज से विश्वासघात करते हैं। इस स्थिति का लाभ उठाते हुये ग्रीक मेनाण्डर ने एक झूठा सन्देश फैला दिया कि "वैदिक हिन्दू दुर्बल बौद्ध राजाओं का राज्य हड़पने का षड्यंत्र रच रहे हैं। इसलिये, मेरी लड़ाई उन वैदिक हिन्दुओं से है। "इससे उनको बौद्धों का समर्थन निश्चित हो गया। दुर्बल बौद्ध राजा बृहद्रथ ने तो उनके साथ युद्ध ही नहीं किया। इससे मेनाण्डर अयोध्या तक पूरे देश पर कब्जा करने में सफल हो गया। उस समय बृहद्रथ का सेनापति था पुष्यमित्र नामक ब्राह्मण।[13] उसने बड़ी कुशलता से सेना की कमान संभाली और ग्रीकों को पराजित किया। तत्पश्चात् देशद्रोही बौद्धों द्वारा उसे मरवा दिया गया। उसने सामान्य बौद्धों को अपना धर्माचरण करने की सुविधा प्रदान की। उसने महर्षि पतंजलि के मार्गदर्शन में अश्वमेध यज्ञ भी सम्पन्न किया। धीरे-धीरे वे ग्रीक, जो पराजित होकर पलायन कर गये थे, वापिस आये और आत्मसमर्पण करके उन्होंने शरण माँगी। सबको आश्रय दिया गया। समयान्तर में वे समाज की मुख्यधारा में शामिल हो गये।"[14]

"बौद्धों ने आक्रमणकारी कुशानों की भी सहायता की थी। वे यवन, व्याक्ट्रिय, शक, हूण और अब अरब, सब आक्रमणकारियों की सहायता करते रहे हैं। ऐसा कोई शत्रु नहीं है जिसको उनकी सहायता नहीं प्राप्त हुयी हो। इसके परिणामस्वरूप सामान्यजन और राजा दोनों उनसे खिन्न हो गये और वे समाज की मुख्यधारा से अलग पड़ गये। हूण और मुसलमान आक्रमणकारी, जिन्हें बौद्धों के द्रोह से लाभ मिला था, बाद में उन्होंने ही बौद्धों को गाजर-मूली की तरह काट कर मार डाला। इनमें से बहुत सारे बौद्ध तो तिब्बत देश भाग गये। बहुतों ने संहार के डर से इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया।[15] यही प्रधान कारण है कि बौद्धों की संख्या अब न्यून रह गयी है।"

यज्ञेश्वर ने इस पर एक आपत्ति जतायी, "अगर बौद्धों का खात्मा मार कर या उनका धर्मपरिवर्तन करके किया गया, तो क्या इससे हमारी ही संख्या न्यून नहीं हुयी?"

"ऐसा कैसे?" देवशर्मा बीच में बोला। "बौद्ध हमारे अपने लोग हैं। वे अविवेक से बौद्ध बने हैं। अगर मारने से या धर्मपरिवर्तन से उनकी संख्या घटती है तो इससे मुझे कोई प्रसन्नता नहीं मिलती है। अगर वे अपना अविवेक त्यागकर वैदिकधर्म में वापिस आते हैं तो ही मुझे प्रसन्नता होगी।"

शंकर ने सहमति जतायी, "यह सही है देवशर्मा!। उनकी संख्या घटने के और क्या कारण हैं?"

"उनके क्षय का एक और कारण है अहिंसा के विचार को अव्यवहारिक सीमा तक ले जाना। आज से सात-आठ शताब्दी पहले अशोक से प्रेरित हो राजा हर्ष ने माँस के विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। जो गुप्तरूप से माँस का विक्रय करते थे उन्हें पकड़कर मौत के घाट उतार दिया गया।[16] इसपर लोगों ने विद्रोह किया। उनको शान्त करने के लिये बौद्ध राजाओं ने उनके शाकाहारी भोजन के लिये आर्थिक सहायता देना प्रारंभ किया। ऐसा तीन वर्ष तक किया गया। परन्तु उसके बाद लोग क्या करते? खिन्न हो वे सब वैदिक धर्म में वापिस लौट आये।"[17]

यज्ञेश्वर बीच में बोला, "गुरुजी! अगर माँसाहार हिंसा है तो माँसाहारियों

को मौत के घाट उतारना क्या है? क्या वह अहिंसा है? राजा होते हुये भी इतना मूर्ख होना कलियुग की महिमा की कही जायेगी।"

देवशर्मा ने अपनी बात जारी रखी, "बौद्धों की संख्या घटने का एक और कारण मैं आपको बताता हूँ। राजा की आज्ञा थी कि सब माँसाहारी नगर से बाहर पृथक् निवास करें। यदि उनको नगर के भीतर आना होता तो घण्टी बजाते हुये या ढोल पीटते हुये प्रवेश करना होता था।[18] इस अस्पृश्यता के अपमान को न सहते हुये वे सब वैदिक धर्म में वापिस आ गये। इससे भी उनकी संख्या घट गयी।"

शंकर ने पूछा, "क्या इस विषय में और कुछ कहना शेष है?"

"गुरुजी! अगर हम अपने पूर्वजों पर आये कष्टों को सुनाते रहे तो उसका कोई अन्त नहीं है। उसका सार हम कह चुके हैं।"

शंकर ने तब कहा, "ऊर्जस्तम्भ, यज्ञेश्वर दीक्षित और देवशर्मा ने बहुत महत्वपूर्ण तथ्यों से हमें अवगत कराया है। ये सब बहुत गंभीर विषय हैं। अब शाम हो गयी है। आप सब अपने सन्ध्यावन्दन के लिये जाइये। अध्यक्ष महोदय! क्या हम कल शाम चार बजे फिर मिल सकते हैं?"

"अवश्य", अध्यक्ष ने कहा और सभा समाप्त हुयी।

× × ×

अगले दिन यज्ञेश्वर दीक्षित शंकर को अपने घर भिक्षा के लिये ले गये। भिक्षा के पश्चात् सबने उन्हें नमस्कार किया। सबसे अन्त में यज्ञेश्वर ने अपने दो वर्षीय पौत्र को बुलाया और उससे गुरुजी को प्रणाम कराकर कहा, "यह बहुत शैतान है। जब यह जागता है तब कोई नहीं सो सकता। वैसे तो यह बहुत चपल है परन्तु आज चुपचाप बैठकर आपको देख रहा है।"

"इसका नाम क्या है?", शंकर जी ने पूछा।

"देवल", दीक्षित जी ने उत्तर दिया और अपनी बात जारी रखी, "हमारा और हमारे पूर्वजों का जीवन व्यर्थ ही बीत गया। थोड़ा बहुत वेद पढ़कर हम पौरोहित्य वृत्ति से अपना जीवन चलाते हैं। मुसलमानों के अत्याचार के कारण हमने एक नगर से दूसरे नगर तक भागते हुये अपना

जीवन बिताया है। हम समाज को कोई योगदान नहीं दे सके। देवल ऐसा न रहे। कृपया उसे आशीर्वाद दें कि वह एक उत्तम विद्वान् बने और उसके द्वारा लोक का कल्याण हो।"

शंकर जी ने देवल के सिर पर हाथ रखकर "देवल! तुम्हारे पितामह कहते हैं कि जब तुम जागते हो तो कोई नहीं सो सकता। बड़े होकर जो सोये हुये हैं उन सबको जगा देना। निरोगी और दीर्घायु रहो" यह आशीर्वाद दिया।

अगले दिन सभा में शंकर ने उपस्थित जनों को सम्बोधित किया–

"कल जो चर्चा की गयी उसका सार यह है: शत्रुओं ने हमारे देश पर आक्रमण किया। अपनी मातृभूमि की रक्षा करते हुये हमारे लोगों को पराजय का सामना करना पड़ा। तदनन्तर शत्रुओं द्वारा हमारे लोगों का जनसंहार किया गया। जो बच गये उन्हें शत्रुओं का धर्म स्वीकार करना पड़ा। इस विपत्ति का मूल कारण क्या है? बौद्ध, जो कि अपने ही लोग थे, उन्होंने समाज के साथ द्रोह किया। उन्होंने ऐसा क्यों किया? क्योंकि वे सनातन धर्म के प्रति द्वेष रखते थे। परन्तु सनातनधर्मियों ने तो कभी उनके स्वधर्माचरण में बाधा नहीं डाली। तो फिर वे सनातन धर्म से क्यों द्वेष करते थे? इसके विषय में हमें विचार करना पड़ेगा। सनातन धर्म में ही सांख्य, योगी, वैशेषिक, तार्किक, भागवत इत्यादि विभिन्न विचारधाराएँ हैं। तथापि, उनका आपस में द्वेष नहीं है क्योंकि उन्होंने वेदों की परिधि को नहीं त्यागा है। परन्तु बौद्धों ने वेदों को त्याग दिया है। वे वर्णाश्रमधर्म एवं यज्ञों को स्वीकार नहीं करते। अगर वे केवल अस्वीकार करते तो कोई चिन्ता नहीं थी परन्तु वे उससे घृणा करते हैं। इस विसंगत घृणा के पीछे क्या कारण है? क्या आप में से कोई इसका कारण बता सकते हैं?" क्षणभर के लिये चुप्पी छा गयी। कोई कारण को नहीं जानता था। शंकर जी ने फिर स्वयं कहा:

"मैं केवल वही दोहराऊँगा जो हमारे गुरु परमपूज्य गोविन्दभगवत्पाद जी ने कहा है। बौद्ध धर्म एक व्यक्तिनिष्ठ धर्म है। वह सनातनधर्म की तरह अपौरुषेय नहीं है। कोई भी व्यक्ति कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो, उसकी बुद्धि एक सीमा तक ही काम कर सकती है। उसमें समग्रदृष्टि का सामर्थ्य नहीं होता। अतः उसके सिद्धान्त में परिपूर्णता नहीं होती। जब उसे स्वयं ही

यह नहीं पता होता, तो उसके अनुयायी कैसे जान सकते हैं? परन्तु यह मिथ्या मोह कि जो अपने गुरु द्वारा कहा गया है वही श्रेष्ठ है और दूसरों द्वारा जो कहा गया है वह उसके विरुद्ध है ऐसी क्रोधपूर्ण असम्मति रखने से दूसरे विचार रखने वालों के प्रति घृणा उत्पन्न होती है जो विश्वासघात, हिंसा, क्रूरता आदि अनेक दोषतापूर्ण आचरणों को जन्म देती है। व्यक्तिनिष्ठ सभी मतों के साथ ऐसा ही है। इन सिद्धान्तों में दोष रहते ही हैं अतः कालक्रम से उनका नाश निश्चित है। परन्तु जब तक वे जीवित रहते हैं, तब तक उनके अनुयायी समाज में क्षोभ उत्पन्न करते रहते हैं और अपना द्वेषयुक्त जीवन जीते हुये पाप एकत्रित करते रहते हैं।"

इन शब्दों के साथ शंकर ने अपना वक्तव्य समाप्त किया। बहुत समय तक सभा में मौन छाया रहा। कुछ समय बाद यज्ञेश्वर जी बोले:

"गुरुजी! कृप्या बताइये कि ऐसी परिस्थितियों में हमें क्या करना चाहिये।"

"तुम्हारे प्रश्न में 'हम' में न केवल ब्राह्मण बल्कि क्षत्रिय भी सम्मिलित हैं। पहले देखो कि ब्राह्मण का कर्तव्य क्या है। सनातनधर्म को दृढ करना दोनों का सर्वकाल में कर्तव्य है। यह केवल अध्यापन (प्रवचन) से साध्य है। परन्तु प्रवचन के लिये अध्ययन आवश्यक है। अध्ययन-प्रवचन ही लोकशांति का आधार है। अतः स्वाध्याय और प्रवचन ही ब्राह्मण के तप कहे गये हैं। यह प्रवचन सब वर्णों के व्यक्तियों के लिये देने चाहिये। परन्तु अलग-अलग लोगों द्वारा आचरणीय धर्म भी भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः इन प्रवचनों का कार्यक्षेत्र अत्यन्त गंभीर और विस्तृत होता है। धर्म की गंभीरता श्रुति में है। उसका विस्तार स्मृति में है। श्रुति स्थिर है, स्मृति चलनशील है। ऐसा इसलिये है क्योंकि स्मृति काल के अनुसार आचरण का नियम करती है। स्मृति के नियम हर किसी के द्वारा नियमित नहीं किये जा सकते। केवल जिन्होंने श्रुति का गहन अध्ययन किया है, जो प्राज्ञवान हैं, शान्त हैं, संयमित हैं और धर्मकाम हैं, वे ही ऐसा कर सकते हैं।"

"अब राजधर्म में जो ध्यान देने योग्य बात है उसकी ओर देखो। एक दृष्टि से देखा जाये तो ब्राह्मण का धर्म सरल है और राजधर्म जटिल। सनातनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों को बिना छोड़े, किसी विशेष काल में अगर

राजा सनातन धर्म की रक्षा के लिये कुटिल नीति का प्रयोग करता है तो वह अधर्म नहीं होता। महाभारत के युद्ध में आदि से अन्त तक भगवान् कृष्ण ने राजाओं को यही सिखाया है। परन्तु उन्होंने अभी तक यह नहीं सीखा है। बहुत बार हमारे राजा शत्रुओं के साथ ब्राह्मणों के समान सरलता से व्यवहार करते हैं। यह अविवेक उनके लिये और धर्म के लिये विपत्तिकारी है। राजा को अविवेकी नहीं होना चाहिये। ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह राजा को समयानुसार इस सब का बोध कराते हुये उसका मार्गदर्शन करता रहे। इस विषय में आप सबको सावधान रहना चाहिये। जैसी–जैसी परिस्थिति आये वैसे–वैसे क्या करना है इसका निश्चय करना चाहिये। हमारे प्रयासों को गुरुजी का मार्गदर्शन तथा अनुग्रह प्राप्त हैं। इसलियें हमें क्या चिन्ता है?

• • •

---

1. Lane people: Medieval India.p. 7-8
2. Tuhfatu kiram & al-Baladhuri / Trans. By F.C. Murgotten – p. 432
3. Armed Aggression : Lane poole : Medival India - p. 5
4. Majumdar : Arab Invasion of India – p. 29
5. Tod : Annals of Rajaputana I p. 75
6. Majumdar : Arab Invasion of India – p. 26, 34
7. Chachnama : Elliot, History of India I. p. 161
8. Chachnama : History of India I. p. 170
9. Chachnama : History of India I. p. 171
10. Briggs : Firishta IV p. 410-411; Muir : Chaliphate p.362-363
11. K.M.Munshi:Imperial Gurjaras in Glory that was GujarathDesh III p. 50
12. W.W. Tam : Greeks in Bactria & India – p. 175; Nehru : Discovery of India – p. 43; Smith : Early History of India.
13. W.W. Tam : Greeks in Bactria & India (1938); Sir John Marshall : Taxila (1951) p. 33
14. Smith : Early History of India (1924) p. 213-214; Nehru : Discovery of India (1956) p. 140
15. Nehru : Discovery of India – p. 184
16. Smith : Early History of India - p. 194-195
17. Nehru : Discovery of India – p. 184
18. Majumdar, Roy Chaudhary, Kalikumara Dutta : Advanced History of India – p. 186

अध्याय चार

सोमनाथ से काशी

दो–तीन दिन के बाद शंकर ने सोमनाथ से प्रस्थान करने का निश्चय किया। "फिर आऊँगा" ऐसा कहकर अपने आराध्यदेव श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये वे द्वारका की ओर चल पड़े। दर्शन के बाद वह मन्दिर में ही रुके रहे और वहाँ के मुख्य लोगों का परिचय प्राप्त किया। उनमें भी बहुत से गोविन्दभगवत्पाद के शिष्य थे। तीन–चार दिन तक उन्होंने उनके साथ बहुत से विषयों पर विचार–विमर्श किया। परन्तु उनमें कोई भी शास्त्राध्ययन किया हुआ विद्वान् नहीं था। तब शंकर समझ गये कि क्यों गुरुजी ने उन्हें सोमनाथ से सीधा काशी जाने के लिये कहा था। इसलिये अब उनकी आँखें काशी पर लग गयीं। अधिकतर मार्ग उन्होंने पैदल ही तय किया। कभी–कभी, अवसर प्राप्त होने पर, वे घोड़ागाड़ी अथवा बैलगाड़ी की सहायता भी ले लेते थे। उद्देश्य था जल्दी–से–जल्दी काशी पहुँचना। प्रायः एक महीने में यह संकल्प पूरा हुआ।

काशी पहुँचते ही शंकर ने गंगा जी में स्नान किया। उसके बाद काशी विश्वनाथ के दर्शन किये। दण्डकमण्डलुधारी इस तेजस्वी बाल–संन्यासी को देखकर लोगों ने माँगने से पहले ही उन्हें भिक्षा समर्पित की। तीर्थयात्रियों के परामर्श पर उन्होंने पास ही एक धर्मशाला में रहने का निश्चय किया। उन्हें अपने चारों ओर पाठशालाएँ दिखायी दीं। निकट ही एक बृहद् पुस्तकालय भी था। शीघ्र ही उन्होंने अविरत अध्ययन तथा विद्वानों से चर्चा प्रारंभ कर दी। कुछ ही समय में उनकी प्रसिद्धि एक असाधारण प्रतिभा के रूप में चारों ओर फैल गयी। अब वे केवल पुस्तकालय जाने के लिये ही अपने निवासस्थान से निकलते थे। बाकी समय काशी के महान् विद्वानों और साधकजनों का उनके दर्शनार्थ धर्मशाला में ताँता लगा रहता था। साधारणतया अतिगंभीर चर्चा चलती जिसमें किसी को समय की सुध न रहती। दोपहर में कोई एक जन शंकर जी को भिक्षा के लिये अपने घर ले जाता। सरलता, गहन

पाण्डित्य, विनय, और सबको अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अपने विचारों का बोध कराने का अद्भुत सामर्थ्य, इन सब गुणों ने शीघ्र ही उन्हें गुरु की आदरणीय पदवी पर स्थापित कर दिया। एक दिन दोपहर को जिज्ञासु जन शंकर को घेर कर बैठे थे और अपनी शंकाओं का परिहार करा रहे थे। दूर एक कोढ़ी अलग बैठा था। उसने एक प्रश्न किया:

"गुरुजी! मैंने कई महात्माओं के प्रवचनों में सुना है कि अन्तरात्मा ज्योतिस्वरूप है। इसका क्या अर्थ है?"

"बताता हूँ, सुनो! सबमें जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। जाग्रत् अवस्था में मन और ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों का ज्ञान होता है। यह ज्ञान ही प्रज्ञा है। अत: जाग्रदवस्था में विद्यमान जीव का नाम बहिष्प्रज्ञ है। अब बताओ, दिन में बहिष्प्रज्ञ कौन से प्रकाश में वस्तुओं को देखता है?"

"सूर्य के प्रकाश में।"

"और सूर्यास्त के बाद?"

"चन्द्र के प्रकाश में।"

"अगर चन्द्र का प्रकाश भी न हो तो?"

"फिर कुछ भी नहीं दिखायी देगा।"

"आगे सुनो। जाग्रत् के व्यवहार से थका जीव सो जाता है। तब वह स्वप्न देखता है। जाग्रदवस्था के समान ही रथ, घोड़े और मार्ग देखता हैं। वे क्या हैं?"

"वे जाग्रदवस्था में देखे हुये रथादि की स्मृतियाँ हैं।"

"उन स्मृतियों का द्रष्टा अन्त:प्रज्ञ है। उनको देखने के लिये अन्त:प्रज्ञ के पास सूर्यादि का प्रकाश है क्या?"

"नहीं है।"

"तो फिर कैसे देखता है?"

"स्मृति में विद्यमान प्रकाशित वस्तुओं को ही देखता है, इसलिये अन्य प्रकाश की क्या आवश्यकता है?"

"ऐसा नहीं है। जाग्रदवस्था में दीप को देखने के लिये किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती। परन्तु दीप का चित्र अन्धकार में नहीं दिखायी देता; देखने के लिये अन्य प्रकाश चाहिये। स्वप्नदीप जाग्रद्दीप का स्मृतिचित्र है। उसको देखने के लिये प्रकाश तो चाहिये न?"

"हाँ। अब मैं समझ गया। परन्तु वह प्रकाश कौनसा है यह मैं नहीं बता सकता।"

"वह प्रकाश बाहर का नहीं हो सकता, वह अन्तस्थ ही होना चाहिये। वह स्वप्न को देखने वाले आत्मा का है। अतः आत्मा ज्योतिस्वरूप है।"

"तो मैं उसको क्यों नहीं देख पाता?"

"तुम उसको इसलिये नहीं देख पाते क्योंकि तुम स्वप्नचित्र के दर्शन में मग्न होते हो।"

"स्वप्न को देखने वाले की आत्मा सुषुप्ति का 'मैं' ही हूँ न?"

"नहीं।"

"फिर वह आत्मा कौन है?"

"वह सुषुप्तात्मा की भी आत्मा है।"

"तब तो सुषुप्ति में वह आत्मज्योति दिखायी पड़ती। परन्तु ऐसा नहीं होता, क्यों?"

"वह तुम्हारे पीछे होती है इसलिये नहीं दिखायी देती।"

"सुषुप्ति में तो आगा–पीछा कुछ नहीं होता?"

"तो बताइये कि सुषुप्तात्मा आप कौन हैं?"

"मैं नहीं जानता।"

"आप अपने–आप को नहीं जानते। वह आत्मा इस अज्ञान के पीछे है।"

"तो फिर मैं कौन हूँ?"

"वह आत्मा ही हो। जब तक यह नहीं जानते तब तक सुषुप्तात्मा हो।"

× × ×

एक दिन एक विद्यार्थी ने पूछा, "कुछ बौद्ध कहते हैं कि जगत् शून्य

है। कुछ कहते हैं कि जगत् स्वप्न की तरह काल्पनिक है। कुछ मीमांसक कहते हैं कि वह सृष्टि–लयरहित नित्य है। कुछ लोग जो सृष्टि–लय को स्वीकार करते हैं कहते हैं कि ईश्वर इसका निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान। कुछ मानते हैं कि जगत् बिना किसी निमित्त के अपने–आप प्रकृति से उत्पन्न हुआ है। मैं बड़े उत्साह के साथ इस श्रेष्ठ विद्याकेन्द्र काशी में इस विश्वास के साथ विद्याग्रहण करने के लिये आया था कि मैं बहुत कुछ सीख पाऊँगा। परन्तु यहाँ भिन्न–भिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये जा रहे हैं जो कि परस्पर विरोधी भी हैं। ऐसे में हमारे जैसे विद्यार्थी भ्रमित हो जाते हैं। मेरी प्रार्थना है कि मुझे कृपया इस प्रकार समझाइये जिस प्रकार कोई संशय न रहे।"

शंकर ने स्पष्ट किया:

"जगत् के सुख और दु:ख सबके अनुभव में हैं, इसलिये, यह सिद्धान्त कि जगत् शून्य है, चर्चा के योग्य नहीं है। अत: उसको तो तुम छोड़ ही दो। जगत् स्वप्न की तरह काल्पनिक भी नहीं है क्योंकि स्वप्न में जिस मित्र को हम बीमार देखते हैं उसी से हम जब जाग्रदवस्था में मिलते हैं तो उसे स्वस्थ पाते हैं। अत:, स्वप्न में देखे हुये मित्र का और जाग्रत में देखे गये मित्र में भेद स्पष्ट है। अत: जाग्रत में देखा गया जगत् स्वप्न के समान नहीं है।"

"उसके बाद तुमने कुछ मीमांसकों के सिद्धान्त का उल्लेख किया है। वे वेदों में विश्वास रखते हैं। जब संहिता में ही 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्व:', अर्थात् ईश्वर ने पिछले कल्प के समान ही द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग की सृष्टि की, ऐसा कहा है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि जगत् नित्य है?"

"और जो कहते हैं कि सर्वज्ञ ईश्वर केवल निमित्त है और उससे भिन्न अनन्त प्रकृति उपादान है तो यह उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित ईश्वरसर्वज्ञत्व के विरुद्ध है। कैसे? देखो! चूंकि प्रकृति अनन्त है उसको मापा नहीं जा सकता। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर भी उसको नहीं माप सकता। परन्तु यह ईश्वर के सर्वज्ञत्व के विरुद्ध होगा अगर ईश्वर उसे माप सकता है तो वह अनन्त नहीं हो सकती। इसलिये, यह सिद्धान्त भी नहीं टिक सकता।"

"फिर तुमने उस सिद्धान्त की बात की जो कहता है कि यह जगत् बिना किसी निमित्त के अपने आप जड़ प्रकृति से उत्पन्न हुआ है। इसमें व्याघात दोष है क्योंकि जो स्वयं कोई भी व्यवहार नहीं कर सकता उसी को जड़ कहते हैं। यह वे लोग भी जानते हैं। अतः, जड़ प्रकृति बिना किसी निमित्त के स्वयं प्रवृत्त होते हुये जगदाकार लेती है यह स्वविरुद्ध है। इस प्रकार ये सारे सिद्धान्त दोषपूर्ण हैं। इन त्रुटियों का मूल कारण यह है कि ये सारे सिद्धान्त अनुमान पर आधारित हैं। परन्तु तर्क से सम्पूर्णतया कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। एक अंश में कोई कल्पना वैध होने पर भी दूसरे अंश में वह अवैध सिद्ध होती है। ऐसे विषयों का निश्चय करने के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता होती है। यही श्रुति है। सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति 'मैं बहुत प्रकार से जन्म लूँ ऐसी इच्छा की' इस वाक्य के द्वारा श्रुति स्थापित करती है कि केवल परमात्मा एक ही जगत् का उपादान और निमित्त दोनों है। इस पर विश्वास कराने के लिये मकड़ी और उसके जाले का दृष्टान्त भी श्रुति देती है। यही है सही सिद्धान्त।"

कोई सज्जन प्रतिदिन एकाग्रता और मौन के साथ इन सम्भाषणों को सुनते थे। एक दिन उन्होंने शंकर से एकान्त में कहा:

"मेरा नाम पृथ्वीधर है। क्या मैं एक प्रश्न पूछ सकता हूँ?"

"अवश्य पूछो।"

"घटादि कार्य के लिये कुम्हार निमित्त है और मिट्टी उपादान है। आकार की सृष्टि करने का व्यवहार कुम्हार का है। किन्तु मिट्टी यद्यपि घटादि आकारों को प्राप्त करती है तो भी वह सदा मिट्टी रूप से ही रहती है। इससे स्पष्ट पता पड़ता है कि मिट्टी व्यवहाररहित है। फिर दार्ष्टान्त में यदि ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है तो यह विरोध उत्पन्न होता है निमित्त होने से ब्रह्म में व्यवहार है; परन्तु उपादान होने के कारण वह व्यवहाररहित होना चाहिये। इसका परिहार कैसे होगा?"

अभी तक खड़े पृथ्वीधर को शंकर ने बैठने के लिये कहा। फिर उन्होंने कहा:

"इसका परिहार ऐसे होता है। श्रुति में कथित ब्रह्म का निमित्तत्व गौण

अर्थ में है, न कि मुख्य अर्थ में। मुख्य अर्थ में तो जगत् का निमित्त कारण है प्रथम जीव हिरणगर्भ, न कि ईश्वर; क्योंकि ईश्वर प्रवृत्तिरहित है। 'अनेन जीवेनात्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'–इस जीवात्मा के रूप से प्रवेश करके नामरूपों का विभाजन करता हूँ' ऐसा कहकर ईश्वर हिरण्यगर्भ में प्रवेश करता है। इस जीव में सृष्ट्यादि व्यवहार के लिये आवश्यक प्रवृत्ति तो होती है, परन्तु सामर्थ्य नहीं होता। इसमें जो सामर्थ्य दिख पड़ता है वह है ब्रह्मशक्ति प्रकृति का। अतः, गृहनिर्माण का कार्य साक्षात् मजदूर के द्वार होने पर भी गृहस्वामी ही है जो मजदूर को उसके लिये सामर्थ्य देता है और इसीलिये गृहस्वामी को ही गृहनिर्माता कहा जाता है। इसी प्रकार, श्रुति ब्रह्म पर निमित्तकारणत्व का अध्यारोप करती है। इसलिये ब्रह्म के निमित्तत्व को गौण अर्थ में ही लेना है। किन्तु ब्रह्म का उपादानत्व तो मुख्यार्थ में ही है; उससे ब्रह्म का अव्यवहार्य रूप बाधित नहीं होता।"

इस स्पष्टीकरण से पृथ्वीधर अत्यन्त तृप्त हुये। उन्होंने शंकर जी से कहा, "क्या मैं बीच-बीच में आपके दर्शन के लिये आ सकता हूँ? इससे आपको असुविधा तो नहीं होगी?"

"बिल्कुल भी नहीं। आप जब चाहे यहाँ आ सकते हैं।"

शंकर हमेशा लोगों से घिरे रहते थे। दोपहर का समय बिना पूर्वनिर्धारण के प्रश्नोत्तर काल में परिवर्तित हो गया। उस समय विद्यार्थी और साधु-सन्त अवश्य उपस्थित रहते थे। एक दिन चर्चा करते-करते शाम हो गयी। शंकर, "स्नान करने जाना है", यह कहकर उठ गये। "हम भी चलेंगे" ऐसा कहकर बहुत से शिष्य भी उनके साथ हो लिये। ग्रीष्म ऋतु होने के कारण स्नान-घाट पर अत्यधिक भीड़ थी। शंकर के स्नान के लिये उतरने पर जो लोग नदी प्रवाह में उनसे ऊपर थे वे नीचे की ओर चले गये। शंकर ने स्नान करके भस्म धारण की और दण्ड तथा गंगाजल से भरा कमण्डलु हाथ में लेकर वापिस चलने लगे। भक्तजन आगे-आगे दोनों तरफ लोगों को हटाते हुये शंकर के लिये रास्ता बना रहे थे। तभी उन्होंने देखा कि बीच मार्ग में एक चण्डाल चार कुत्तों के साथ उनकी ओर मुख करके बैठा है। एक शिष्य ने ऊँची आवाज में कहा, "रे! उठ। इतना भी नहीं जानता क्या? दूर जा। रास्ता छोड़।"

वह धीरे–धीरे उठा और एक बार शंकर को और एक बार शिष्य की ओर देखकर बाला, "तुम किसे दूर जाने के लिये कह रहे हो, शरीर को या आत्मा को?"

शिष्य आँखें फाड़कर उसको देखने लगा, उसे समझ नहीं आ रहा था कि वह क्या कहे। चण्डाल ने ही दुबारा बोलना शुरु किया, "यदि शरीर को कह रहे हो तो उसको उठकर जाने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि सभी शरीर मिट्टी से उत्पन्न होकर सप्त–धातुओं से युक्त होते हैं। यदि आत्मा को कह रहे हो तो प्रत्यगात्मा का तो शरीर से सम्बन्ध ही नहीं है, यह गहरी नींद में सबका अनुभव है। फिर किसको उठकर जाने के लिये कह रहे हो बताओ?"

न केवल वह भक्त, बल्कि जितने लोग वहाँ उपस्थित थे सब अवाक् रह गये। चारों ओर चुप्पी छा गयी। अन्त में शंकर जी बोले, "भाई! आप तत्त्व को अच्छी तरह समझते हो। जो तत्त्व शास्त्राध्ययन किये लोगों को भी दुष्प्राप्य है उसे आप हृदयंगम कर चुके हो। आप महात्मा ही हो। आप मेरे गुरु के समान हो।"

यह सुनकर वह चण्डाल मन्द–मन्द मुसकराते हुये अपने कुत्तों के साथ विश्वनाथ मन्दिर की दिशा में चल पड़ा। शंकर के शब्दों पर कुछ लोगों ने प्रसन्नता अनुभव की, कुछ को आश्चर्य हुआ और कुछ को उनका अर्थ ही समझ में नहीं आया।

अगले दिन दोपहर को प्रतिदिन की तरह सभा लगी। सब चुप थे। किसी ने कोई प्रश्न नहीं पूछा। न कोई कुछ बोला। शंकर जी ने ही बोलना प्रांरभ किया।

"जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है मैं आत्मा हूँ यह ज्ञानस्थिति, अर्थात् मोक्ष। यह आत्म अत्यन्त परिशुद्ध है। इसका देहेन्द्रियादि से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा होने पर भी इसको मन से ही जानना है। यह तभी संभव है जब मन आत्मा के समान परिशुद्ध हो जाये। मन की शुद्धि कैसे होगी? विहित कर्मों का निष्काम आचरण करने से मन शुद्ध होता है। और कर्म करते समय शरीर की शुद्धि आवश्यक है। इसके लिये सम्प्रदाय में अनेक नियम दिये

गये हैं। पाँच-छह साल के बचपन के बाद बच्चे और माता-पिता परस्पर एक दूसरे को नहीं छूते हैं। रजस्वला स्त्री तो किसी से भी सम्पर्क न रहे इस प्रकार अपने को दूर रखती है। जब रोगी को छूकर उसकी सेवा करने का अनिवार्य प्रसंग उत्पन्न होता है तो सेवा के बाद नहाकर ही किसी दूसरे कार्य में प्रवृत्त होते हैं। जन्म और मृत्यु के निमित्त होने वाले अशौच में भी ऐसा ही है, इसमें भी कोई किसी का स्पर्श नहीं करता। ये सब व्यवहार बुद्धि की शुद्धि के लिये आवश्यक हैं।"

"यह सब सुनने के बाद अब कल शाम को नदी के पास हुये प्रसंग को याद करो। ऐसा कोई नहीं कहेगा कि नदी में स्नान करके जो पूजा के लिये जा रहे हैं उनका दूसरों को न छूना गलत है। परन्तु नदी तो सार्वजनिक स्थल है। यहाँ सब स्वतन्त्रता से आ-जा सकते हैं। अगर कोई जो अशुद्ध है तुम्हारे मार्ग में आता है तो उससे बचकर निकलना ही उत्तम है। अगर ऐसा संभव न हो तो "कृपया जगह दीजिये" ऐसा कहकर उनसे निकलने के लिये मार्ग माँगने में कोई दोष नहीं है। परन्तु अगर कोई यह समझता है कि मार्ग उसके लिये ही आरक्षित है और जो अशुद्ध है उन्हें नीच समझकर "दूर जाओ" ऐसा चिल्लाता है तो वह सही नहीं है। स्मृति भी नदी, तालाब, कुएँ, मार्ग इत्यादि सार्वजनिक स्थलों पर सबका समान अधिकार बताती है। मन्दिरों के गर्भगृह में अर्चक के सिवाय किसी को भी जाने की अनुमति नहीं है तो भी भगवान् के दर्शन करने का सबको अधिकार है। कौन नीच है? कौन ऊँचा है? सभी में एक ही परमात्मा है, इसीलिये वेद कहते हैं 'नमः पुञ्जिष्टेभ्यः नमोनिषादेभ्यः पक्षी पकड़ने वाले को नमस्कार है, शिकारी को नमस्कार है; ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः मछुआरे ब्रह्म हैं, पत्थर ढोनेवाले ब्रह्म हैं, जुआ खेलनेवाले ब्रह्म हैं।' इसीलिये ज्ञानी 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिनः-कुत्ते और चाण्डालादि में पण्डित समदर्शी होते हैं।' अतः हृदय में किसी के भी बारे में नीचभावना नहीं रखनी चाहिये। किसी को भी उपेक्षा से नहीं देखना चाहिये। एक शिशु को भी उपेक्षा से नहीं देखना चाहिये।"

इतना कहकर शंकर बिना और कुछ कहे उठकर अपने कक्ष में चले गये। कुछ देर बाद, मन्द-मन्द कदमों से चलते हुये पृथ्वीधर ने गुरुजी के कक्ष में प्रवेश किया और साष्टांग प्रणाम करके खड़ा हो गया। तब शंकर ने

उसको मनीषा पंचक नामक स्तोत्र दिया जो उन्होंने उसी दिन सुबह लिखा था। पृथ्वीधर ने उसे धीरे–धीरे पढ़ा और “आपका अनुग्रह सदा मुझपर बना रहे” ऐसा कहकर अपनी आँखों में उमड़े आनन्द के आँसू पोंछ डाले।

एक दिन दोपहर को प्रश्नोत्तरसभा समाप्त ही हुयी थी कि एक युवक शंकर के पास आया। वह लगभग पच्चीस वर्ष का था। श्यामवर्ण था, थोड़ी–थोड़ी दाढ़ी थी। शान्त नेत्र थे और उसने घुटने से थोड़े नीचे तक धोती और ऊपर उत्तरीय डाल रखा था। प्रतिदिन वह प्रश्नोत्तर शुरू होने से पहले ही एक कोने में आकर बैठकर सुना करता था। बाद में गुरुजी को नमस्कार करके चला जाता था। उस दिन नमस्कार करने के बाद उसने मौन छोड़कर कहा, “मैं व्यक्तिगत रूप से आप से बात करना चाहता हूँ। कब आँऊ?”

“आपको जब समय हो तब आ सकते हैं। भिक्षा और स्नान के समय को छोड़कर मैं हमेशा यहीं रहता हूँ।”

“अभी कर सकते हैं क्या?”

“हाँ कर सकते हैं।”

कक्ष में प्रवेश करने के बाद उसने कहा, “गुरुजी, मेरा नाम विष्णुशर्मा है। मैंने अभी तक किसी को यह नहीं बताया है। किसी ने मुझे यहाँ पर ‘सनन्दन’ नाम से सम्बोधित किया तभी से सब मुझे इसी नाम से बुलाते हैं। मैं चोलदेश का ब्राह्मण हूँ। बचपन में ही पिता चल बसे। मेरे कोई भाई–बहन नहीं हैं। कुछ दिन पहले माताजी भी चल बसी। मुझे संसार में कोई आसक्ति नहीं है। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मुझे अपना शिष्य स्वीकार करें।”

“क्या आपने कुछ अध्ययन किया है?”

“अपनी शाखा के वेद का अध्ययन किया है।”

“आपकी शाखा कौन सी है?”

“साम–शाखा।”

“और क्या अध्ययन किया है?”

“प्रायः दो वर्षों से काशी में हूँ। कुछ काव्य और थोड़ा सा व्याकरण पढ़ा है। परन्तु उनमें मेरी रुचि नहीं है। मेरी अभिलाषा वेदान्त सीखने की है। परन्तु यहाँ उसका अध्ययन करने का अवसर ही नहीं प्राप्त हो रहा है।”

"मैं प्रतिदिन दोपहर में आपको देखता हूँ। यहाँ जो चर्चाएँ होती हैं क्या आप उनको समझ पा रहे हैं?"

"हाँ। समझ पा रहा हूँ, इसीलिये आपकी शरण में आया हूँ।"

"मैं कुछ दिनों बाद यहाँ से बदरीनाथ जाऊँगा। सुना हैं वहाँ बहुत ठण्ड है। आप चोलदेश से हैं, क्या वहाँ रह सकते हैं?"

"मैं उस सबके लिये तैयार होकर ही आया हूँ।"

"तब तो आइये।"

दो–एक दिन में शंकर जी बदरीनाथ के लिये निकलने वाले हैं, यह सुनकर पृथ्वीधर भी उनसे आज्ञा लेकर उनके साथ चलने की तैयारी करने लगे।

× × ×

शंकर बदरीनाथ जाने की तैयारी कर रहे हैं यह सुनते ही काशी के सभी साधु–सन्त और विद्वान् अपने–अपने काम छोड़कर धर्मशाला आ गये। "क्या बात है? आप इतनी जल्दी यहाँ से क्यों जा रहे हैं? क्या हमसे कोई अपराध हो गया है? हम सब तो सोच रहे थे कि अब आप यहीं रहेंगे?"

"ऐसी बात नहीं है। जिस कार्य के लिये मैं यहाँ आया था वह फिलहाल पूरा हो चुका है। मैं फिर आऊँगा। आप सबने आवश्यकता से अधिक मेरा सत्कार किया और सुविधाओं का ख्याल रखा। मैं आपका आभारी हूँ। कृपया मुझे जाने दीजिये।"

"फिर कब आएँगे?"

"दो–तीन साल लग सकते हैं।" साथ जाने के लिये तैयार खड़े पृथ्वीधर को देखकर एक विद्वान् ने पूछा "आचार्य! क्या आप भी जा रहे हैं?"

"हाँ।"

"और विद्यालय में आपका काम?"

"वह मैंने छोड़ दिया है।"

"आप तो ब्रह्मचारी हैं। आपके ऊपर कोई जिम्मेवारी नहीं है। आप कुछ भी कर सकते हैं। आप कितने भाग्यशाली हैं।"

• • •

अध्याय पाँच

काशी से बदरीनाथ

बदरीनाथ की यात्रा आरंभ हुयी। हरिद्वार और ऋषिकेश पार करने के बाद यात्रा पैदलपथ का अनुगमन करने लगी। पृथ्वीधर ने सनन्दन से कहा,

"मैं इस पर्वतप्रदेश से परिचित हूँ; इसलिये मैं आगे रहूँगा, गुरुजी बीच में रहेंगे और आप गुरुजी के पीछे रहना।" वे इसी क्रम में चलने लगे। हिमालय पर्वत दृष्टिगोचर हुये। ये भगवान् शिव का निवासस्थान है– ज्ञानियों और मुमुक्षुओं का परमधाम। पैदल चलते समय यहाँ एक ओर ऊँची-ऊँची चोटियाँ हैं और दूसरी ओर गहरी खाइयाँ। मुख्य घाटियों में लोकपावनी गंगा और यमुना बहती है। छोटी घाटियों में इनसे मिलने को उत्सुक छोटी-छोटी नदियाँ बहती हैं। असंख्य झरने भी हैं। कहीं जल के गिरने का स्वर और कही योगियों को समाधि की ओर ले जाने वाला मौन। गगनचुम्बी वृक्ष, छोटे पेड़-पौधे, लताएँ और झाड़ियाँ। बड़े-बड़े मधुमक्खियों के छत्तों से आती मक्खियों की झन्कार। तरह-तरह के पक्षी, सर्प और हिंसक पशु। वहाँ के छोटे-छोटे गाँव और शहरवासियों की वंचना, आडम्बर और ढकोसलों से रहित वहाँ के लोग। इन गाँवों से गुजरते हुये गुरुजी और दोनों शिष्य इनसे ही भिक्षा माँगते। कुछ दूर चलने पर कोई आश्रम या मन्दिर मिल जाता। ये ही थे उनके रात्रि के विश्रामस्थल। एक स्थान से दूसरे स्थान जाते समय वहाँ के लोग, "यहीं रहिए, यहीं रहिए", ऐसा अनुरोध करते। आखिरकार वे बदरीनाथ पहुँचे।

शंकर जी और सनन्दन को एक ओर बिठाकर पृथ्वीधर ने मन्दिर के प्रमुख से मिलकर धर्मशाला में दो कमरे ले लिये। कमरों में पहुँचते-पहुँचते शाम के पाँच बज गये। कुछ देर विश्राम करके तीनों ने अलकनन्दा नदी में स्नान किया।

"अन्धेरा हो रहा है। अगर मन्दिर के पट खुले हों तो हम दर्शन कर सकते हैं", शंकर जी ने कहा।

"खुले हैं, चलते हैं।", पृथ्वीधर ने कहा।

तीनों ने मन्दिर में प्रवेश किया। क्या दिल दहलाने वाला दृश्य था! वहाँ बदरीनाथ जी का विग्रह ही नहीं था। लोग खाली पीठ को नमस्कार कर रहे थे। पूछने पर पता चला कि कुछ वर्ष पूर्व पुष्यमास की शीतकाल में जब मन्दिर बन्द था तो उपयुक्त अवसर जानकर बौद्धों ने विग्रह को निकालकर अलकनन्दा नदी में फेंक दिया था। यह सुनकर शंकरजी का मुख गंभीर हो गया। सदानन्द आश्चर्यचकित खड़े रहे गये। शंकर जी ने पृथ्वीधर की ओर देखा। पृथ्वीधर ने कहा, "बौद्धों के इतिहास से मेरा थोड़ा परिचय है। इसलिये इससे मुझे आश्चर्य तो नहीं हो रहा, परन्तु दुःख अवश्य हो रहा है।" वह रात्रि प्रायः मौन में ही बीती।

अगले दिन पृथ्वीधर मन्दिर के अध्यक्ष ब्रह्मदत्त से मिलने गये। जब वे उनके घर में प्रवेश कर रहे तो उन्हें देखकर ब्रह्मदत्त स्वयं बाहर निकलकर बोले, "आप काशी विश्वविद्यालय के आचार्य हैं न? मुझे याद है कि जब मैं तीन वर्ष पूर्व तीर्थयात्रा के लिये वहाँ गया था तब मैंने आपको देखा था।"

"महाशय! मैं अपने आने का कारण बताता हूँ। मैं यहाँ एक बालसंन्यासी के साथ आया हूँ। उनका नाम है शंकरभगवत्पाद। यहाँ आने से पहले वे एक महीने तक काशी में थे। मैं वहाँ उनसे प्रतिदिन मिलता तथा वार्तालाप करता था। एक ही बात में कहना हो तो यह मेरा दृढ विश्वास है कि वे भगवान् शिव के अवतार हैं। उनके गुरु हैं ओंकारेश्वर के गोविन्दभगवत्पाद। उनके आदेशानुसार ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखने के लिये वे यहाँ आये हैं। मेरी आप से प्रार्थना है कि आप इसके लिये उन्हें सब सुविधाएँ प्रदान करें।"

"आचार्य! इससे अधिक और मेरा भाग्य क्या होगा? मैं सारी व्यवस्था करूँगा। परन्तु क्या करना है यह आप मुझे बताइये।"

"देखिए, लिखने के लिये व्यासपीठ, कलम, स्याही, और ताड़पत्र आवश्यक हैं। वर्षा की बूँदों से ताड़पत्र नष्ट हो जाते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिये। अतः, उनका निवासस्थान लेखनयोग्य होना चाहिये। भिक्षा की और सोने की व्यवस्था भी होनी चाहिये। उनके साथ हम दो हैं। हमारी भी भोजन और रहने की व्यवस्था होनी है।"

"आप जैसा कह रहे हैं वैसी ही व्यवस्था हो जायेगी। धर्मशाला में रहना उपयुक्त नहीं हैं, वहाँ यात्रियों का कोलाहल रहता है। ग्रन्थरचना के लिये एक शान्त स्थल चाहिये। व्यासगुफा अधिक उपयुक्त है। वहाँ वर्षा की बूँदें नहीं गिरतीं और ठण्ड भी कम है। उसके बगल में एक और छोटी गुफा है। वहाँ आप दोनों रह सकते हैं। मैं बिस्तर और मोटे कम्बल भेज दूँगा। अब रही भिक्षा की बात तो सर्दी में मैं यही होता हूँ। तीनों की भिक्षा यहीं हो जायेगी। आप जब तक चाहें रह सकते हैं। लिखने के लिये आपने जो सामान बताया है वह सब मैं इकट्ठा कर लेता हूँ। आपको कुछ भी चाहिये हो तो आप बिना संकोच के जब चाहे माँग सकते हैं।"

शीघ्र ही दोनों गुफाएँ रहने के लिये तैयार कर दी गयीं। व्यासगुहा में एक कोना लिखने के लिये तैयार किया गया और उसके साथ ही बिस्तर लगा दिया गया। तेल, बत्ती और प्रकाश फैलाते दो दीपक गुफा में रख दिये गये। फिर ब्रह्मदत्त ने धर्मशाला जाकर शंकर को साष्टांग नमस्कार किया और बड़ी श्रद्धा से उन्हें व्यासगुहा ले आये और कहा, "गुरुजी! आपके आने से हमारा गाँव पवित्र हो गया है। आप यहाँ एक महान् कार्य करने के लिये पधारे हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि आपने हमें सेवा का अवसर दिया है। आपको किसी वस्तु की आवश्यकता हो तो निस्संकोच हमें आज्ञा दीजिये और वह आपको मिल जायेगी।" शंकर जी ने व्यवस्था देखी और कहा, "ब्रह्मदत्त जी, आपके द्वारा की गयी व्यवस्था अति उत्तम है। अब मैं निश्चिन्त होकर अपने कार्य में लग सकता हूँ। आप और आपके परिवार को भगवान् बदरीनाथ जी का अनुग्रह प्राप्त होता रहे।"

एक–दो दिन बाद शंकर बोले, "कल से भाष्यरचना का कार्य आरंभ करना है।"

पृथ्वीधर ने गुरुजी से अनुमति माँगी कि जैसे–जैसे वे बोलते जायेंगे वैसे–वैसे वह लिखता जायेगा। सनन्दन भी ऐसे लिखना चाहते थे। गुरुजी ने दोनों को लिखने की अनुमति दे दी।

अगले दिन दोनों शिष्य गुरुजी से पहले उठ गये और स्नान और नित्यकर्म समाप्त किये। तब तक गुरुजी भी नदी पर आ गये। सनन्दन

गुरुजी की सेवा के लिये वहीं रहे; इतने में पृथ्वीधर ने वापिस जाकर गुफा में गुरुजी और उन दोनों के लिये आसन तैयार कर दिये। उसने व्यासपीठ को सामने रखा और सूत्रों के मूल ग्रन्थ को एक शुभ्र वस्त्र पर रखकर फूलों से सजाया और धूप जलायी। तब तक शंकर ने स्नान और प्रणवजप करके गुरु का स्मरण करते हुये नैर्ऋत्य दिशा की ओर साष्टांग प्रणाम किया। फिर गुफा वापिस आकर उन्होंने अपना आसन ग्रहण किया और दोनों शिष्यों ने उन्हें नमस्कार किया। कुछ समय ध्यान करने के बाद तीनों ने मिलकर 'शं नो मित्रः' इत्यादि दस शान्तिमन्त्रों का पाठ किया। तत्पश्चात् शंकर जी ने बोलना शुरू किया–

"सबसे पहले ब्रह्मसूत्रों को स्थूलरूप से जान लो। ये सूत्र उपनिषदों के वाक्यों की विमर्शा करने के लिये प्रवृत्त हुये हैं। सब उपनिषदों का ध्येय एक ही है। किन्तु विषय समझाते समय शब्दों और वाक्यों का प्रयोग प्रसंगानुसार हुआ करता है। इसलिये, ध्येय को समझने में लोगों को कठिनाई का अनुभव होता है तथा संशय भी उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मसूत्र इनका परिहार करने के लिये प्रवृत्त हुये हैं।"

"ये सूत्र चार अध्यायों में विभक्त हैं। पहला है समन्वय अध्याय, इस अध्याय में यह दिखाया गया है कि सभी उपनिषदों का समन्वय परमपुरुष आत्मा का निश्चय कराने में ही है। यह जगत्कारण ब्रह्म ही है। निरुपाधिक ब्रह्म मन और वाक् की पहुँच से परे है। जगत् को उपाधि मानने पर वही सविशेष ब्रह्म के रूप में प्रकट होता है। यह उपास्य ब्रह्म है।"

"द्वितीय है अविरोध अध्याय। इसमें बताया गया है कि यह जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है परन्तु ब्रह्म जगत् से भिन्न है। ब्रह्म को जगत्कारण न मानने वाले सभी सिद्धान्तों का इसमें खण्डन किया गया है। सृष्टिक्रम के निश्चय द्वारा यह दिखाने वाला कि उपनिषद्वाक्यों में इस विषय में कोई विरोध नहीं है, ही अविरोध अध्याय है।"

"तीसरा है साधना अध्याय, इसमें दिखाया गया है कि जीव अपने स्वरूप में निरुपाधिक ब्रह्म ही है और इसको अनुभव करने के लिये आवश्यक साधनों को भी बताया गया है।"

"चौथा फल अध्याय, मोक्षफल के लक्षणों को बताता है। ज्ञानी के सब कर्मों के नाश और अपुनरावृत्ति की इसमें चर्चा है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रत्येक पाद में अनेक अधिकरण हैं। कुल मिलाकर 192 अधिकरण हैं। हर अधिकरण में कई सूत्र हैं परन्तु कुछ अधिकरणों में एक-एक सूत्र भी हैं। ब्रह्मसूत्रों की कुल संख्या 555 है।"

"हर अधिकरण में एक क्रम का अनुसरण किया गया है- पहले होती है संगति जो कि पूर्व विषय के साथ सम्बन्ध बताती है। उसके बाद होता है चर्चा के लिये स्वीकार किया गया विषय, फिर आता है इस चर्चा को अवकाश देने वाला संशय। फिर आते हैं संशय का परिहार करते समय उत्पन्न आक्षेप जिनको पूर्वपक्ष कहते हैं। आक्षेप के निवारण के बाद निश्चित किया गया स्वपक्ष ही सिद्धान्त है। इन पाँच अंशों के क्रम द्वारा ही सिद्धान्त का निश्चय किया जाता है।"

सनन्दन ने एक प्रश्न पूछा "पहले अधिकरण की संगति क्या है?"

"देखो, पहला अधिकरण है जिज्ञासा अधिकरण। उसमें एक ही सूत्र है – 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'। जिज्ञासा का अर्थ है जानने की इच्छा। क्या जानने की इच्छा? ब्रह्म। अतः, ब्रह्म जिज्ञासा का विषय है।"

"ब्रह्म की जिज्ञासा क्यों करनी चाहिये?"

"उसके ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है।"

"मोक्ष क्या है?"

"दुःख के लेशमात्र से भी रहित नित्य आनन्द।"

"परन्तु जिन्होंने शास्त्र का अध्ययन किया है वे भी तो दुःख का अनुभव करते ही हैं न?"

"हाँ। ब्रह्मज्ञान के बाद वह ब्रह्म मैं ही हूँ ऐसा अनुभव होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।"

"ब्रह्म जगत् का कारण है। वह सदा-सर्वदा एक समान रहता है। मैं तो इस जगत् का एक अंश हूँ। मैं जन्म लेता हूँ और मरता हूँ। इसलिये 'मैं ब्रह्म हूँ, यह अनुभव नहीं कर सकता।"

"आप कौन हो बोलो?"

“मैं सनन्दन ब्रह्मचारी हूँ।”

“कल रात आप स्वप्न में कहाँ थे?”

“काशी में घूम रहा था।”

“आप उस समय कौन थे? जो काशी में घूम रहा था या जो बदरीनाथ की गुफा में सो रहा था?”

दोनों शिष्य इस बात पर हँस पड़े। क्या कहें उन्हें नहीं सूझा। शंकर जी ने ही दुबारा कहना प्रारंभ किया, “कल रात गहरी नींद (सुषुप्ति) में आप कहाँ थे? किस रूप में थे? बोलो।”

“कुछ भी नहीं जानते।”

“इससे स्पष्ट है कि सुषुप्ति में आपको अपने अस्तित्व पर संशय नहीं होने पर भी आप कौन हो यह नहीं जानते। यही है आपका अज्ञान। सुषुप्ति में शरीर और इन्द्रियों के साथ आपका सम्बन्ध नहीं होता। फिर भी जाग्रत् अवस्था में शरीर के साथ सम्बन्ध की कल्पना करके आप अपने को सनन्दन समझने की गलती कर बैठते हैं। यही है आपके द्वारा किया जा रहा अध्यास। सुषुप्ति में विद्यमान आप ब्रह्म हैं ऐसा श्रुति कहती है। उसको जान लेना ही ज्ञान है। अब जो पहले कहा गया है कि ‘जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है परन्तु ब्रह्म जगत् से भिन्न है’, उसको याद करो। तब आपको ज्ञात होगा कि जगत् मुझसे भिन्न नहीं है, परन्तु मैं जगत् से भिन्न हूँ’। तब शरीर से सम्बन्ध छूट जाता है। आप मुक्त हो जाते हो। अतः, यह जानना कि आप नहीं जानते हो कि आप कौन हो यही जिज्ञासा अधिकरण की संगति है।”

पृथ्वीधर ने अगला प्रश्न पूछा, “यह सबका अनुभव है कि सुषुप्तात्मा सन्मात्र है। इससे अधिक उसके विषय में और कुछ नहीं कह सकते। श्रुति सुषुप्तात्मा को ही ब्रह्म बताती है। इसलिये, ब्रह्म भी सन्मात्र ही होना चाहिये। परन्तु सन्मात्र ब्रह्म से जगत् कैसे उत्पन्न हो सकता है?”

“यह आक्षेप केवल अनुमान पर आधारित है। देखो, सन्मात्र ब्रह्म से जगत् उत्पन्न हो सकता है या नहीं यह अनुमानप्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता अर्थात् ब्रह्म का जगत् का कारण होना यह अनुमान का विषय नहीं है केवल श्रुतिप्रमाण का विषय है। अतः, जो श्रुति की शरण में है वे श्रुति जो कहती है उसी को स्वीकार करते हैं।”

"यह कहने से श्रुतिप्रमाण से ब्रह्मैकत्व और प्रत्यक्षप्रमाण से नानात्व, दोनों स्वीकार करने पड़ेंगे क्योंकि एक प्रमाण दूसरे प्रमाण के विरुद्ध नहीं हो सकता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जीवित अवस्था में केवल कर्म या ज्ञान-समुच्चित कर्म करना है और मरने के बाद दूसरे लोक अथवा मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार कर्म और ज्ञान का समन्वय हो जाता है। इसे छोड़कर अगर जगत् का निराकरण किया जाये तो मुझे डर है कि वह बौद्ध धर्म का समर्थन करता नजर आयेगा।"

"बौद्धमत का बिलकुल समर्थन नहीं करता। कैसे देखो। जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है; इसलिये स्वरूप में सत्य ब्रह्म एक ही रह जाता है। उसमें जगत् बिलकुल भी नहीं है। जगत् के विचार में कारणदृष्टि रखने पर यही जानने का विषय रह जाता है। अगर कार्यदृष्टि से देखा जाये तो जगत् असत् नहीं है, असत्य है- अर्थात् परिणामशील (बदलता रहता) है। फिर भी, उसमें सत्यब्रह्म निहित होने के कारण, जगत् व्यवहारयोग्य होता है। इसका अर्थ यह है कि जगत् ब्रह्म के समान पारमार्थिक सत्य नहीं है बल्कि व्यवहारिक सत्य है। अब आगे देखो। असत्य जगत् के साथ कर्म का समन्वय होता है और सन्मात्र ब्रह्म के साथ मोक्ष का समन्वय होता है। इसलिये श्रुतिसिद्धान्त में शून्यवाद के लिये कोई स्थान नहीं है। ज्ञान-कर्मसमुच्चय के लिये भी कोई स्थान नहीं है और मृत्यु के बाद ही मोक्ष मिलता है इसके लिये भी कोई स्थान नहीं है।"

"यदि ऐसा है तो कर्मसम्बन्ध से रहित ज्ञान कौन सा है?"

"वास्तव में जो जगत् अपने से अभिन्न है उसे अज्ञान के कारण जो अपने से भिन्न समझता है, वही कर्मी होता है। अभेद बुद्धिमान तो कर्मरहित ज्ञानी होता है। यह अभेदज्ञान ही आत्मज्ञान है। यही है श्रुति द्वारा कथित सर्वात्मभाव। श्रुति एक और ज्ञान भी बताती है। यह है भेदबुद्धि पर आधारित उपास्य देवता का ज्ञान। इसमें ज्ञान-कर्मसमुच्चय होता है, आना-जाना भी होता है। परन्तु पहले जो कहा गया था वह सद्योमुक्ति नामक श्रुत्युक्त मोक्ष है।"

फिर शंकर जी द्वारा भाष्य का बोलना और शिष्यों द्वारा उसको लिखने का कार्य आरंभ हुआ। कुछ देर पृथ्वीधर लिखते और कुछ देर सनन्दन

लिखते। लिखते समय जो–जो संशय उपस्थित होते थे, गुरुजी तत्समय ही उनका परिहार करते जाते थे। शंकर जी द्वारा ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य रचा जा रहा है यह समाचार तीर्थयात्रियों के माध्यम से देशभर के साधकों में फैल गया। सर्दी की भी परवाह न करते हुये दूर–दूर से साधक वहाँ आने लगे। नये आये साधक भी भाष्य लिखने बैठ गये। बहुतों ने उसकी प्रतिलिपियाँ बना कर रख लीं। पास के गाँवों से पाँच–छह लोग सत्संग के लिये सम्मिलित हो गये। कुछ ही दिनों में, दोपहर के समय साधकों के लिये भाष्यपाठ चलने लगा और बाकी समय में भाष्यरचना का कार्य चलता था। अभी तक साधकों को जो समझना कठिन था वही अब उन्हें स्पष्ट रूप से समझ आने लगा। उनके आनन्द की सीमा न रही। उन सबके बीच में केवल इसी पर चर्चा होती थी, अन्य विषयों की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता था। धीरे–धीरे व्यासगुफा व्यासाश्रम में परिवर्तित हो गयी।

ये दिनचर्या शान्ति से चल रही थी कि एक दिन उसमें विघ्न पड़ गया और हलचल मच गयी। प्रतिदिन की तरह शंकर जी ने अपना प्रवचन आरंभ किया। कम्बल ओढ़े चार–पाँच वृद्धजन प्रतिदिन वहाँ आते थे। यह सोचकर कि वे वहाँ केवल समय बिताने आ रहे हैं कोई युवा साधक उनकी ओर ध्यान नहीं देता था। प्रवचन प्रत्येक दिन दो घण्टों तक चलता था और उस दिन समाप्त ही होने वाला था कि अकस्मात् उनमें से एक वृद्ध ने उठकर चिल्लाते हुये कहा,

"ऐ! तुम क्या बोल रहे हो? तुम्हारे सारे वचन परस्पर विरुद्ध हैं। एक बार कहते हो कि कर्म नहीं छोड़ना चाहिये और अगले ही क्षण कहते हो कि कर्म को छोड़ दो। फिर ज्ञान–कर्मसमुच्चय की बात कहते हो। एक बार जगत् को सत्य कहते हो, फिर असत्य कहते हो, और फिर मिथ्या कहते हो। तुम्हारे वचनों का क्या अर्थ है? तुम्हारे द्वारा कहे मिथ्यावचनों की क्या कोई सीमा नहीं है? तुम कहते हो कि तुम ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिख रहे हो। छोटे से तो तुम हो! शास्त्र को तुम क्या जानते हो?"

बोलते हुये वह शंकर जी को क्रोधित लाल–लाल आँखों से घूर रहे थे। उसके होंठ काँप रहे थे। शरीर यद्यपि वृद्ध था, तो भी कण्ठ युवा और ऊर्जस्वी था। परिस्थिति को शान्त करने के लिये पृथ्वीधर उठकर उनके

समीप गये और साथ बैठकर विनम्रता से उनके कन्धे पर हाथ रखकर बोले," आप हमारे पितृतुल्य हैं। आपको इस प्रकार चिल्लाना नहीं चाहिये।"

अब वह वृद्ध उस पर ही कुपित हो उठा, "जब मैं उस बालक से पूछ रहा हूँ तो तुम बीच में बोलने वाले कौन हो? जाओ! चुपचाप बैठो।" पृथ्वीधर ने शंकर की ओर देखा। वे तो एकदम प्रसन्नचित्त बैठे थे! पृथ्वीधर की बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म थी। बिना कुछ कहे वे अपने स्थान पर वापिस चले गये। तत्पश्चात् अनुद्विग्न हुये बिना शंकर ने कहा:

"भगवन्! मैं तो बालक हूँ। आप महापण्डित हैं। मेरी प्रार्थना है कि अगर मैंने कुछ दोषपूर्ण कहा है तो उसे सुधारने की कृपा कीजिये।"

"सुधारने की बात बाद में होगी। पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो।"

शंकर ने विनम्रता से उत्तर देना प्रारंभ किया "आरुरुक्षु को कर्म नहीं छोड़ना चाहिये। आरूढ को छोड़ देना होता है, ये भगवान् के ही शब्द हैं जो मैंने कहे हैं। और देवोपासना में ज्ञान-कर्मसमुच्चय है। यहाँ देवता के स्वरूप का ज्ञान ही ज्ञान है। लेकिन शास्त्रश्रवण किये हुये साधनचतुष्टय से जो सम्पन्न हैं उनके लिये तो आत्मज्ञाननिष्ठा मात्र ही कर्तव्य है। इस ज्ञान में द्वैत नहीं होता, अतः कर्मसम्बन्ध नहीं होता ऐसी भगवान् व्यास की वाणी है। और जगत् स्वरूपदृष्टि से ब्रह्म है अर्थात् पारमार्थिक सत्य है, लेकिन व्यवहारदृष्टि से असत्य है अर्थात् व्यावहारिक सत्य है। और अज्ञानियों की दृष्टि में जो 'अब्रह्म' जगत् है वह मिथ्या बताया गया है। अगर इसमें कोई दोष है तो कृपया करके मुझे सही कीजियेगा।"

"यह गलत नहीं है। परन्तु तुमने कहा कि जगत् अनिर्वचनीय है; इसका क्या अर्थ है?"

"तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः, इस ब्रह्मसूत्र के द्वारा यह निश्चित होता है कि जगत् ब्रह्म से अनन्य है। किन्तु ब्रह्म में अविद्यमान व्यवहार जगद्विकार में होता है। अतः जगत् का विचार करते समय जिज्ञासु में एक ही समय में दो दृष्टि होती हैं- परमार्थदृष्टि और व्यवहारदृष्टि। इसलिये, जगत् ब्रह्म है अथवा उससे भिन्न है, यह निस्सन्दिग्धता से कहना संभव नहीं है। क्या उसको अनिर्वचनीय नहीं कहना चाहिये?"

"हुँ। यह भी ठीक है। अब बताओ कि जगत् का निमित्तकारण क्या है?"

"ब्रह्म।"

"प्रधान ही निमित्त क्यों नहीं हो सकता?"

"वह जड़ है। अतः, उसमें सृष्टि करने के लिये प्रवृत्ति नहीं हो सकती।"

"ब्रह्म में होती है क्या?"

"उसमें भी नहीं होती।"

"तब सृष्टि कैसे हो सकती है?"

"ब्रह्म से संयुक्त प्रकृति से हो सकती है।"

"इस संयोग में जो प्रवृत्ति दिखायी देती है वह ब्रह्म की है या प्रकृति की?"

"प्रकृति की ही है।"

"तब संयोग किसलिये कहा?"

"प्रवृत्ति प्रकृति की होने पर भी वह प्रवृत्तिरहित ब्रह्म के कारण ही होती है क्योंकि ब्रह्म हो तो प्रवृत्ति होती है अन्यथा नहीं होती।"

"यदि इस संयोग के कारण ब्रह्म कार्य कराने वाला (Agent) बन जाता है तो इससे उसके स्वरूप को हानि पहुँचेगी न?"

"ऐसा नहीं है। चुम्बक प्रवृत्तिरहित होने पर भी उसके निकट लोहा प्रवृत्त होता है यह हम देखते हैं।"

"उसे छोड़ो। अब यह बताओ कि प्रथम सृष्टि कौन सी है?"

"आकाश।"

"वह एक वस्तु कैसे हो सकता है? वह तो आवरण का अभाव मात्र है।"

"यदि ऐसा है तो उसमें एक पक्षी के आने पर इस अभाव का नाश हो जाना चाहिये; और दूसरे के लिये अवकाश नहीं रहना चाहिये।"

"दूसरा पक्षी वहाँ जा सकता है न जहाँ पहला पक्षी नहीं है?"

"तब तो दूसरे पक्षी को अवकाश देने वाला आकाश एक और दूसरा आकाश होगा।"

इस पर सभा में बैठे कुछ लोगों को हँसी आ गयी। पृथ्वीधर ने गंभीर मुख से सभा की ओर देखा। पुनः शान्ति छा गयी। वृद्ध ने अपनी बात जारी रखी,

"अब देखता हूँ कि तुम में उपनिषदों का ज्ञान कितना है। यह बताओ कि जीव मरते समय अगली देह के लिये सूक्ष्मभूतों को अपने साथ ले जाता है या नहीं?"

"ले जाता है।"

"जहाँ जाता है वहीं मिलते हैं न! फिर यहाँ से क्यों ले जाता है?"

"ले जाता है ऐसा श्रुतिवचन है। छान्दोग्य की पाँचवीं आहुति बताती है कि 'जल (आप)' पुरुषाकार लेता है।"

"तो देह में केवल पानी ही होता है क्या?"

"नहीं। समस्त भूत होते हैं।"

"यह कैसे कह सकते हो?"

"यह जल (आप) त्रिवृत्कृत है।"

"उनको क्यों ले जाना चाहिये?"

"क्रियाशक्तिरूप प्राण, वस्तु के आश्रय बिना गमन नहीं कर सकता।"

"प्राणों का गमन ही नहीं होता न! 'अग्निं वागप्येति वातं प्राणः - वाक् अग्नि में और प्राण वायु में प्रवेश करते हैं।' ऐसा श्रुति ही कहती है न?"

"वह गौणार्थ में है।"

"कैसे?"

"श्रुति यह भी कहती है कि 'वनस्पतीन् केशाः– केश वृक्षों में प्रवेश करते हैं। यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। अतः, श्रुति का प्रत्यक्ष से विरोध न हो, उसी प्रकार वातः प्राणः को गौणार्थ में स्वीकारना पड़ेगा।"

"ब्रह्म सर्वरस सर्वगन्ध है– इस प्रकार सविशेष है; और अरस अगन्ध है– इस प्रकार निर्विशेष है, ऐसी श्रुति है। अतः, ब्रह्म उभयलिंग है या नहीं?"

"नहीं।"

"क्यों?"

"एक ही ब्रह्म सविशेष भी है और निर्विशेष भी, यह कथन परस्पर विरुद्ध है।"

"तुम क्या श्रुति पर आक्षेप कर रहे हो?"

"नहीं। दोनों प्रकार के वाक्यों का समन्वय करके अर्थ का निश्चय करना पड़ेगा।"

"समन्वय कैसे होता है?"

"निर्विशेष स्वरूप है, सविशेष उपाधि के सम्बन्ध से दिखायी पड़ता है।"

"हम ऐसा क्यों नहीं कहें कि ब्रह्म 'सर्वरस' है और उसे 'अरस' कहना उत्प्रेक्षा है?"

"श्रुति ब्रह्म को अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ इत्यादि भी कहती है। उत्प्रेक्षा कहने पर स्थूलत्व, अणुत्व, ह्रस्वत्व, दीर्घत्व इत्यादि विरुद्धधर्म ब्रह्म में संलग्न रह जायेंगे।"

"रस, गन्ध आदि वस्तु हैं या नहीं?"

"वस्तु हैं।"

"वस्तु नित्य होती है, इसलिये, उपाधिदृष्टि से ब्रह्म का सर्वरसत्व भी नित्य ही हुआ न!"

"नित्य ही है। लेकिन सत्य नहीं है।

"सत्य कहने से क्या मतलब?"

"कूटस्थ नित्य।"

"वस्तु को नित्य स्वीकार करने पर ब्रह्म का कूटस्थ-नित्यत्व कैसे सिद्ध होता है?"

"विकार स्वरूप से भिन्न नहीं है इस ज्ञान से सिद्ध होता है।" इस तीव्र प्रश्नोत्तर की झड़ी से श्रोता अवाक् रह गये। प्रगाढ़ मौन छा गया। इस वृद्ध तथा बालक को देखकर सब काँप उठे। सब प्रश्नों का सही उत्तर पाकर भी

कुपित से दिखने वाले उस वृद्ध ने कहा, “क्षुद्र बालक! मेरे अगले प्रश्न से तुम काँप जाओगे, देखो।”

उनके इस प्रकार कहते ही शंकर तुरन्त उठ खड़े हुये और नमस्कार रूप से अभिवादन करते हुये हाथ जोड़कर बोले, “आप कोई भी प्रश्न पूछ सकते हैं।”

“बैठ कर ही बात करो।”

“इसको अपनी आज्ञा का उल्लंघन न समझिएगा, मेरा अभी तक आपको बैठकर उत्तर देना गलत था। मुझे खड़े होकर ही बोलना चाहिये। आपके अनुग्रह से ही मेरे मुख से इन प्रश्नों के उत्तर आ सकते हैं।”

वृद्ध के वचन कुछ नर्म पड़े। “शंकर तुमने अभी कहा न कि ब्रह्म कूटस्थनित्य है? तो फिर उससे जगत् कैसे उत्पन्न हो सकता है?”

“श्रुति कहती है, को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् इयं विसृष्टिः यत आबभूव यह विविध सृष्टि किस प्रकार आयी कौन जानता है? कौन बता सकता है? स्वयं भगवान् का वचन है– ‘न मे विदुस्सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः– मेरी उत्पत्ति को देवता या महर्षि भी नहीं जानते हैं।”

“तो क्या हम ब्रह्मनिमित्तत्व को बचाये रखकर ‘को अद्धा वेद’ इस श्रुति को त्याग दें या इस श्रुति को रखकर ब्रह्मनिमित्तत्व को अर्थवाद कहें?”

“प्रथम पक्ष रखने पर निमित्त के स्वरूप का निश्चय नहीं किया जा सकता। द्वितीय पक्ष रखने पर सृष्टि के कारण का निश्चय नहीं किया जा सकता।”

“तब फिर समन्वय कैसे कर सकते हैं?”

“निमित्तत्व यदि अध्यारोपित हो तो समन्वय होता है।”

“इस अध्यारोप का स्वरूप क्या है?”

“प्रवृत्तिरहित ब्रह्म जीवरूप से प्रवेश करके सृष्टि करता है अतः, जीव के निमित्तत्व का गौणार्थ में ब्रह्म में प्रयोग करना अध्यारोप है।”

“कूटस्थ ब्रह्म द्वारा प्रवेश करने का व्यवहार कैसे हो सकता है?”

सर्वत्र व्यापक ब्रह्मशक्ति से। जीव और जगत् में व्यक्त होना ही ‘प्रवेश करना’ कहलाता है। वह भी अध्यारोप ही है।”

"उपादानत्व अध्यारोप है या नही?"

"नहीं।"

"कैसे?"

"उपादानत्व कहने पर ही ब्रह्म के कूटस्थ होने का निश्चय होता है, इसलिये, वह अध्यारोप नहीं है।"

कुछ क्षणों के लिये मौन छा गया। बालक और वह वृद्ध एक दूसरे को देख रहे थे। यह क्या! अचानक धरती को हिला देने वाली एक भीषण गर्जन सुनायी पड़ी। सबके कान सुन्न हो गये। किसी को कुछ भी नहीं दिखायी दे रहा था। सब प्रज्ञाहीन होकर निष्चेष्ट से हो गये। वृद्ध अपने सच्चे रूप, यानि व्यास जी के रूप में प्रकट हो गये। तुरन्त अपने स्थान से दौड़कर शंकर ने उनको साष्टांग नमस्कार किया। उनके पैरों को पकड़े हुये शंकर बहुत देर तक पृथ्वी पर ही पड़े रहे। व्यास जी ने ही उन्हें उठाकर गले से लगा लिया।

"शंकर! तुम में और शुक में कोई भेद नहीं है। मेरी गुफा में ही रहकर तुम ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिख रहे हो यह सुनकर मैं तुम्हें देखने के लिये आया था। तुम्हारे प्रवचन सुने। तुम्हारी अनुपस्थिति में मैंने तुम्हारा भाष्य पढ़ा। फिर भी तृप्ति नहीं हुयी। अतः, तुम्हारी परीक्षा लेने के लिये भेष बदलकर यहाँ आया और अनेक प्रश्न पूछे। बीच में उठकर यदि तुमने मुझे नमस्कार नहीं किया होता तो जो उत्तर तुमने स्वयं ही प्राप्त किये थे तुम्हारे स्मरण में नहीं आते। शंकर! तुम्हारे सदाचार, पाण्डित्य और सज्जनता से मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। अब तुम्हारी आयु समाप्त होने वाली है। किन्तु अभी तुम्हें अनेक महान् कार्य करने हैं। मैं तुम्हें उससे दुगुनी आयु का वरदान देता हूँ। यहाँ का कार्य समाप्त होते ही शीघ्र यहाँ से प्रस्थान करो। देशभर में संचार करो। धर्मरक्षा की नींव डालो। युगप्रभाव के कारण अभी तीन-चार साल तक धर्म की ग्लानि होती रहेगी। उसे रोको। बाद में, तुम्हारे कार्य के आधार पर ही, धर्म का पुनरुत्थान होगा। तुम और कोई नहीं, इस कार्य के लिये अवतरित भगवान् शिव ही हो।" इतना कहकर वे अन्तर्धान हो गये।

"हाय! मुझे एक भी शब्द कहने का मौका दिए बिना ही वे अदृश्य हो गये।" इस प्रकार खेद करते हुये शंकर स्तम्भ की भाँति खड़े रह गये। वहाँ

उपस्थित जनों में से सबसे पहले पृथ्वीधर और सनन्दन जागे। व्याकुल होकर उन्होंने पूछा, "गुरुजी! गुरुजी!, क्या हुआ? क्या हुआ?"

"होना क्या था! मैं जिस दिन से यहाँ आया हूँ उस दिन से जिसके दर्शन के लिये मैं लालायित था, उन व्यास जी ने मुझे दर्शन दिये, अनुग्रह किया और अदृश्य हो गये। मेरे उनसे कोई बात करने से पहले ही वे अन्तर्धान हो गये।"

"आपसे वाद करनेवाले वे वृद्ध क्या व्यास जी थे?"

"उनके उपनिषदों से प्रश्न पूछने के कारण मुझे सन्देह हुआ था और इसीलिये मेरा बैठकर बात करना उचित नहीं था और मैं उठ खड़ा हुआ। परन्तु वे तुरन्त अदृश्य हो गये। मेरा भाग्य बस इतना ही था। सबको भेज दो, बाद में आप दोनों भी चले जाइये।"

कुछ समय में बाकी लोग भी जाग उठे। बाहर निकलते हुये वे आपस में बात करते जाते थे, "सुना है कि वे वृद्ध स्वयं व्यास जी ही थे। इतनी दृढता और किसमें हो सकती है। अहो! गुरुजी महान् हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि हम उनके शिष्य हैं।"

× × ×

प्रस्थानत्रयभाष्यरचना का कार्य समाप्त होने को था। अनाध्याय के दिनों को छोड़कर साधकों के लिये प्रतिदिन भाष्यपाठ चलता था। तीनों की भिक्षा का प्रबन्ध ब्रह्मदत्त के घर पर ही था, इसलिये दोनों शिष्य सदैव भाष्य को लिखने, पाठ में बैठने और अनुष्ठानों में ही व्यस्त रहते थे। इनको छोड़कर उनकी और किसी चीज में रुचि नहीं थी। ज्येष्ठ से कार्त्तिक मास तक तीर्थयात्री बदरीनाथ आते थे। उस समय पृथ्वीधर उनके साथ अनेक विषयों पर चर्चा करते थे। धर्म की रक्षा में संलग्न साधक कहाँ कहाँ हैं यह जानकारी प्राप्त करके पृथ्वीधर उनसे संपर्क स्थापित करते। इस जानकारी के आधार पर ही बदरीनाथ से काशी लौटने के लिये कौन सा मार्ग उत्तम रहेगा इसकी सूचना उन्होंने शंकर जी को दी।

एक दिन शंकर ने पृथ्वीधर से पूछा, "मैंने सुना है कि सनन्दन आपका शिष्य था। क्या ये सत्य है?"

"विद्यालय में उसने मेरे से थोड़ा सा व्याकरण पढ़ा था।"

"आप ब्रह्मसूत्र पढ़ाते थे ऐसा सुना है, क्या ये सत्य है?"

"जी हाँ। मैं अपना लिखा भाष्य ही पढ़ाता था। आपके दर्शन होने के बाद मैंने उसे गंगा जी में बहा दिया। अब मैं और सनन्दन दोनों आपके शिष्य हैं।"

"सनन्दन को संन्यासदीक्षा देने की सोच रहा हूँ।

"बहुत अच्छा रहेगा। वह सुयोग्य है और बुद्धिमान् भी। पूर्णतया विरक्त है। गुरुजी! मैं भी आपसे संन्यासदीक्षा प्राप्त करने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

"समय आने पर आपका भी होगा। मुझे लगता है कि आने वाले दिनों में आपके ऊपर अत्यधिक उत्तरदायित्व आने वाला है। आपका कार्य भी बिलकुल अलग प्रकार का होगा।"

"मैं आपकी हर आज्ञा का पालन करने के लिये तैयार हूँ। मेरा जीवन आपके लिये समर्पित है।"

"पृथ्वीधर! मेरे लिये नहीं, धर्म की रक्षा के लिये समर्पित है, ऐसा बोलो।"

एक शुभ दिन शंकर जी से संन्यासदीक्षा प्राप्त करके सनन्दन पद्मपाद बन गये। प्रणवमन्त्र का उपदेश प्राप्त करने के बाद वे गुरु को साष्टांग नमस्कार करके बोले, "भगवन! मैं सदा बिना किसी विघ्न के आत्मनिष्ठ होकर इसी जन्म में आत्मैकत्व विद्या प्राप्त करूँ, ऐसा मुझे आशीर्वाद दीजिये।"

"तथास्तु। फिर भी धर्मरक्षा का काम कभी मत छोड़ना।"

× × ×

एक दिन, ब्रह्मदत्त के घर में भिक्षा के बाद शंकर ने कहा, "हमें यहाँ आये हुये तीन वर्ष हो गये हैं। जिस कार्य के लिये आये थे वह बिना किसी विघ्न के पूरा हो गया है। इसमें आपका बहुत बड़ा योगदान रहा। अब वापिस जाने का समय आ गया है। बदरीनाथ जी की मैं क्या सेवा कर सकता हूँ बताइये? मैं करूँगा।"

"गुरुजी! भक्त मूर्तिरहित खाली पीठ को ही नमस्कार करके जाते हैं। क्या करना चाहिये यह हम नहीं जानते। कृप्या आप ही बताइये।"

"पुनः प्रतिष्ठापन होना चाहिये, बस इतना ही करना है।"

"परन्तु मूर्ति?"

"नदी में ढूंढनी चाहिये। यदि मिल जाती है तो उसे स्थापित करेंगे, नहीं तो अन्य कोई व्यवस्था करेंगे।"

"इस समय नदी का प्रवाह कम है। कल से ही ढूंढने का काम आरंभ करेंगे।"

ब्रह्मदत्त ने तुरन्त कुछ निपुण गोताखोरों को बुलाया। बहुत खोजने के बाद उन्होंने मूर्ति के स्थान को ढूंढ निकाला। ऊपर लाने के लिये उसे रस्सी से बाँधकर खींचना था। उतने समय तक साँस रोकने वाला वहाँ कोई नहीं था। "मैं प्रयत्न करता हूँ", ऐसा कहकर शंकर रस्सी पकड़कर जल में उतर गये। बहुत समय बीत गया परन्तु वे वापिस नहीं आये। सबके हृदय जोर-जोर से धड़कने लगे। ब्रह्मदत्त जी तो अत्यन्त भयभीत थे। आखिरकार शंकर ऊपर आये। सबकी साँस में साँस आयी। उनके हाथ में मूर्ति का एक टूटा हुआ हाथ था।

उसको देखकर ब्रह्मदत्त ने कहा, "मूर्ति तो टूट गयी है; उसे कैसे प्रतिस्थापित किया जाये?"

"अगर बच्चे का हाथ टूट जाये तो उसे त्याग नहीं दिया जाता। उसी प्रकार बदरीनाथ जी भी हैं। चिन्ता न करो इन्हीं को स्थापित करो। मूर्ति रस्सी से बाँध दी गयी है। उसे सावधानी से ऊपर खींचना पड़ेगा जिससे कि वह पत्थरों से टकराये नहीं। मैं जाकर जब रस्सी को हिलाऊँ तभी आप लोग खींचना। इतना कहकर शंकर फिर जल में उतर गये। बहुत श्रम से मूर्ति को ऊपर खींचा गया। वहाँ जमा लोगों ने बदरीनाथ और शंकर का जयघोष किया। शंकर ने वैशाख मास के शुक्लपक्ष में शुभमुहूर्त निश्चित किया। श्रीनगर से पुरोहित बुलाये गये। उस वैभवपूर्ण पुनः प्रतिष्ठापन महोत्सव के लिये लोगों में अवर्णनीय उत्साह था। खेद केवल इतना था कि समीचीन रूप से पूजा सम्पन्न करने के लिये वहाँ पुजारी नहीं थे। इसका दु:ख सबको

था। शंकर ने कहा "अभी तो आप में से ही कोई अपने ज्ञानानुसार पूजा का कार्य सम्हाल लें। बाद में मैं पुजारियों को भेजूँगा"। दो-तीन दिन बाद पृथ्वीधर की व्यवस्था के अनुसार तीनों नेपाल के पशुपति की ओर रवाना हुये।

• • •

अध्याय छः

बदरीनाथ से नेपाल

पृथ्वीधर, जो काशी विद्यापीठ के आचार्य रह चुके थे, वहाँ आने वाले तीर्थयात्रियों के माध्यम से देशभर में लोगों से परिचित थे। शंकर जी के जाने का निश्चय होते ही उनकी यात्रा और विभिन्न स्थानों पर ठहरने का प्रबन्ध सुगमता से होता गया क्योंकि पृथ्वीधर ने वहाँ के सम्बन्धित लोगों को पहले से ही सूचना भेजनी आरंभ कर दी। मार्ग में सर्वत्र लोग उनकी प्रतीक्षा में खड़े मिलते। शंकर जी उन्हें स्तोत्र सिखाते हुये, धर्ममार्ग में प्रवृत्त रहने की प्रेरणा देते हुये और विद्वानों के साथ शास्त्रचर्चा करते हुये अपनी यात्रा करते रहे और लोगों का दिल जीतते रहे। चाहे ठहरने के लिये हो या भिक्षा के लिये हो, शंकर जी और उनके शिष्यों को कोई कष्ट नहीं हुआ। कभी पर्वतों पर चढ़ते हुये, कभी उतरते हुये आखिरकार वे किसी प्रकार पशुपतिनाथ पहुँचे। लोगों से खचाखच भरी भीड़ ने नगाड़े और शंख बजाते हुये बड़े उत्साह से उनका स्वागत किया। लेकिन मन्दिर में प्रवेश करते ही शंकर तुरन्त बाहर आ गये। पशुपतिनाथ के लिये बलि रूप से दिये गये भैंसों, भेड़ों और बकरियों के रक्त से न केवल मन्दिर बल्कि शिवलिंग भी सिक्त था। कुत्ते निडर होकर लिंग को चाट रहे थे। शंकर केवल इतना ही कहकर कि "कुछ समय बाद फिर आऊँगा", अपने निवासस्थान पर चले गये। वहाँ एकत्रित नगर के विद्वानों और प्रमुख ब्राह्मणों ने 'न कर्मणा.....' यह मन्त्र पढ़कर नमस्कार किया।

मन्दिर में देखे गये दृश्य के विषय में पूछने पर आयोजकों ने उनसे कहा कि "आपको आज वहाँ ले जाने का कार्यक्रम नहीं था। उत्साह में लोग आपको वहाँ ले गये। हमें क्षमा कीजियेगा। यह देश का एक बहुत बड़ा यात्रास्थल है। हमें नहीं पता कि यहाँ पशुबलि की प्रथा कब प्रारंभ हुयी। परन्तु बहुत दिनों से चली आ रही है। केवल शिवरात्रि के दिन यहाँ कोई बलि नहीं होती। उस दिन हम मन्दिर को धोकर पुण्याह और रक्षोघ्न होम करते हैं और फिर रुद्राभिषेक करके आ जाते हैं।"

फिर पृथ्वीधर ने उपस्थित जनों को सम्बोधित किया, "गुरुजी कुछ दिन यहीं रहेंगे। उत्तम होगा अगर सुबह और दोपहर को विद्वानों के साथ गोष्ठी और शाम को गुरुजी के सार्वजनिक भाषण की व्यवस्था की जाये। उनके उपदेशानुसार आचरण करके उनके अनुग्रह का पात्र बनने से आपका न केवल व्यक्तिगत रूप से, बल्कि पूरे नगर का भी मंगल होगा।" अगले दिन से यह दिनचर्या आरंभ हुयी। दो-तीन दिन में ही लोग शंकर की तेजस्वी प्रतिभा को पहचान गये। विद्वानों ने उनके प्रस्थानत्रयीभाष्य की प्रतिलिपियाँ तैयार करायीं। शंकर विद्वानों के लिये प्रस्थानत्रयी के मुख्य विषयों पर और सामान्य जनता के लिये स्तोत्रपाठ तथा शिवपुराण पर प्रवचन करते। इनके बारे में सुनकर एक दिन नेपालनरेश शंकर के दर्शन के लिये आये। शंकर ने राजपरिवार तथा प्रजा के योगक्षेम के विषय में उनसे चर्चा की। महाराज उनसे अत्यन्त प्रभावित हुये और मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिये कई बार आये।

एक दिन दोपहर की गोष्ठी में एक विद्वान् ने प्रश्न पूछा, "कल हमने आपसे अवस्थात्रय के विषय में सुना। सुषुप्ति में बाह्यविषयों से संपर्क न रहने पर भी सुख का अनुभव कैसे होता है यह हमें समझ नहीं आया।"

"सुषुप्ति में बुद्धि आदि करणों के न रहने के कारण बाह्यप्रज्ञा भी नहीं होती, अन्तःप्रज्ञा भी नहीं होती। इसका अर्थ यह है कि जागृत और स्वप्नावस्था में रहनेवाला 'मैं' वहाँ नहीं होता। लेकिन ऐसा नहीं है कि 'मैं' नहीं हूँ। यदि 'मैं' ही नहीं हूँ तो आनन्द का अनुभव किसे होगा? इस प्रकार वहा 'मैं' रहने पर भी 'मैं कौन हूँ' यह ज्ञान नहीं रहता। यही है अपने विषय में रहनेवाली अविद्या। वहाँ मैं कौन हूँ? मुझे क्या हुआ था? इन प्रश्नों का उत्तर श्रुति इस प्रकार देती है, 'सता तदा सम्पन्नो भवति-तब सद्ब्रह्म में लीन हो जाता है'। और आनन्द ब्रह्म का स्वरूप होने से स्वयं भी उस आनन्द का अनुभव करता है।"

"यह कैसे कह सकते हैं कि सद्ब्रह्म में लीन हो जाता है?"

"देखो, सत्य, ज्ञान, अनन्तत्व और आनन्द सद्ब्रह्म के लक्षण हैं। सुषुप्ति में सिद्ध प्रत्यगात्मा अपने में भी ये लक्षण होते हैं। इसलिये, उस समय स्वयं ब्रह्म में लीन हुआ होता है।"

"ओह! तब तो तत्त्वमसि वाक्य में विद्यमान 'त्वम्' यही प्रत्यगात्मा है क्या?"

"हाँ।"

"अरे! हम तो समझते थे कि 'त्वम्' का अर्थ बहिष्प्रज्ञ है; इसीलिये हम तत्त्वमसि का सही अर्थ नहीं जान पा रहे थे और अपना सिर खपा रहे थे। आपने हम पर बहुत उपकार किया।"

"त्वम् बहिष्प्रज्ञ नहीं है यह इस प्रकार भी देख सकते हैं, 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि', यह भगवान् का ही उपदेश है न? क्षेत्रज्ञ का अर्थ है क्षेत्र को जानने वाला। यह क्षेत्र से भिन्न ही होना है अन्यथा क्षेत्र को जानना असाध्य होगा। और क्षेत्र में स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दोनों सम्मिलित हैं। जागृत् और स्वप्न में जो बहिष्प्रज्ञ और अन्तःप्रज्ञ हैं वे इन दोनों शरीरों से सम्बन्ध रखते हैं। अतः, वे क्षेत्रज्ञ नहीं हो सकते। सुषुप्तात्मा प्राज्ञ स्पष्टतया इन दोनों शरीरों से भिन्न है। अतः, क्षेत्रज्ञ का अर्थ प्राज्ञ ही हो सकता है।

एक और विद्वान् ने पूछा, "तो बहिष्प्रज्ञ और अन्तःप्रज्ञ ब्रह्म नहीं हैं क्या?"

"अब्रह्म कुछ भी नहीं है! वे दोनों ब्रह्म होने पर भी बहिष्प्रज्ञत्व या अन्तःप्रज्ञत्व ब्रह्म का स्वरूप नहीं है, बुद्धि आदि उपाधियों द्वारा दिखायी देने वाला रूप है।"

"स्वरूप और रूप में क्या भेद है?"

"अपने से भिन्न अन्य किसी की भी अपेक्षा न रखकर दिखने वाली वस्तु का रूप स्वरूप होता है; अन्य की अपेक्षा रखकर दिखने वाला रूप होता है।"

एक और दिन पाशुपत मत के एक व्यक्ति ने यह प्रश्न किया, "जगत् की सृष्टि जीव के लिये होती है। हमारा विश्वास है कि ईश्वर, जो कि पशुपतिनाथ जी ही है, जगत् का निमित्तकारण है और प्रधान उपादान है। परन्तु आपने जो कहा है वह इससे भिन्न है। कृपया करके बताइये कि हमारे पक्ष में क्या दोष है?"

"ईश्वर निमित्तकारण है ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है, परन्तु यह कहना कि वह केवल निमित्तमात्र है और प्रधान और पुरुष परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं तथा ईश्वर से भी भिन्न हैं यह ठीक नहीं है।"

"क्यों ठीक नहीं है?"

"आपके मतानुसार तीनों ही सर्वगत और निरवयव हैं न?"

"हाँ।"

"तो फिर प्रधान और ईश्वर का संयोग नहीं हो सकता। अतः, सृष्टि ही नहीं होगी। तब ईश्वर का प्रधान और पुरुष पर प्रभुत्व भी सिद्ध नहीं हो सकता।"

"समवाय सम्बन्ध हो तो?"

"समवाय में एक आश्रय होता है और एक आश्रयी। अगर प्रधान, पुरुष और ईश्वर स्वतन्त्र हों तो कौन आश्रय है और कौन आश्रयी इसका निर्णय नहीं हो सकता।

"अगर प्रधान को ईश्वर की शक्ति कहकर संयोग सम्बन्ध कहा जाये तो?"

"शक्ति और शक्त अगर अलग-अलग होते तो ऐसा कहा जा सकता था। परन्तु शक्ति और शक्त का तादात्म्य सम्बन्ध प्रत्यक्ष है। अतः, पशुपतिनाथ जगत् के निमित्तकारण भी हैं और उपादानकारण भी हैं, यह कहने पर कोई दोष नहीं होता।"

अगले दिन पृथ्वीधर को पद्मपाद बोले, "मैं दो दिन अनुपस्थित रहूँगा, एक विद्वान् से मिलने के लिये थोड़ी दूर एक गाँव में जा रहा हूँ। गुरुजी का ध्यान रखना।" इतना कहकर वे चले गये।

उससे अगले दिन शंकर जी ने पद्मपाद को बुलाया और कहा, "यह सौगतों का एक लघुग्रन्थ है। इसकी एक प्रतिलिपि बना लो। मैं बाहर टहलने जा रहा हूँ।" पर्वत प्रदेश के जंगलों में घूमते हुये शंकर जी रास्ता भूल गये। दोपहर हो गयी। जंगल पार करके वे समतलप्रदेश पहुँच गये। भिक्षा नहीं हुयी थी। उस पर गर्मी में घूमना। पीने के लिये जल भी नहीं मिला। शंकर थककर गिर पड़े। कुछ देर बाद एक चालीस वर्षीय स्त्री पानी का घड़ा लेकर

जाती हुयी नज़र आयी। शंकर ने धीमे स्वर में आवाज़ लगायी, "माँ! पीने के लिये थोड़ा सा जल दे दो।"

स्त्री ने उसी क्षण पानी का घड़ा भूमि पर रख दिया और दोनों हाथ अपनी कमर पर रखकर हँसती हुयी बोली,

"क्या कहा?"

"माँ! थोड़ा सा पानी दे दो।"

"किसलिये?"

"पीने के लिये।"

"घड़ा तो यहीं रखा है, तुम स्वयं आकर ले लो।"

"माँ! मुझमें शक्ति नहीं रही। मैं चल नहीं सकता। कृपया आप ही लाकर दे दो।"

"शक्ति नहीं रही का क्या अर्थ है? अभी पिछले दिन आप ही तो कह रहे थे कि 'शक्तिशक्तिमतो अनन्यत्वम्– शक्ति शक्त से अलग नहीं है', तो फिर आपकी शक्ति आपको छोड़कर कैसे चली गयी? आप ही उठकर आओ और पी लो।"

"पहले जल दो माँ, बाद में वाद होगा।"

"अगर आप मान लें कि आपने जो कहा है वह गलत है तो मैं लाकर दूँगी, अगर उसे सही मानते हो तो आप ही आकर पी लो।"

"मैं स्वीकार करता हूँ कि मैंने जो कहा है गलत है। जल लाकर पिला दो, पीने के बाद मैं दिखाऊँगा कि मेरा कहा हुआ सही है। संन्यासी होकर जो मैंने असत्य कहा है उसका प्रायश्चित आपका दिया हुआ जल पीना ही है।"

"हे पुत्र! तुम्हारे द्वारा दिया गया प्रवचन मैंने सुना था। तुम्हारे साथ शरारत करने की इच्छा थी इसीलिये मैंने यह लीला रची। तुम प्रचण्ड विद्वान् हो। मुझे अभी से पता है कि तुम बाद में क्या कहने वाले हो। तुम्हें जल मैं ही देती हूँ", ऐसा कहकर उन्होंने उसे जल दिया। शंकर के जल पीने के बाद उन्होंने आशीर्वाद दिया, "सर्वत्र यशस्वी हो", इतना कहकर अन्तर्धान हो गयी।

वापिस निवासस्थान पर पहुँचते ही पद्मपाद ने पूछा, "गुरुजी! बहुत देर गये रहे। भिक्षा?"

"तुम ले लो, मेरा पेट भरा हुआ है। कुछ भी नहीं चाहिये", इतना कहकर वे अपने कमरे में चले गये और ध्यानमग्न हो गये।

एक दिन नेपालनरेश ने शिष्यों सहित शंकर को भिक्षा के लिये आमंत्रित किया। शंकर ने कहा, "अगर मेरी एक इच्छा पूरी करोगे तो हम तीनों आयेंगे।"

नरेश ने कहा, "आप में जो इच्छा उत्पन्न होती है वह हमारी भलाई के लिये ही होती है। अवश्य पूरी करूँगा। बताइये क्या इच्छा है।"

"पशुपतिनाथ मन्दिर में कुछ परिवर्तन करने हैं।"

"जैसा आप कहेंगे वैसा ही होगा। क्या परिवर्तन करने हैं बताइये।"

"वहाँ पशुबलि नहीं होनी चाहिये। वैदिक विधि से पूजा होनी चाहिये। यह राजकीय आदेश से ही हो सकता है।"

"बुद्ध के प्रभाव से यहाँ वैदिक परम्परा क्षीण हो गयी है। यहाँ केवल शिवरात्रि के दिन रुद्राभिषेक कर पाते हैं, परन्तु उत्तम विद्वानों की कमी है। ऐसी स्थिति में वैदिक पूजा की व्यवस्था कैसे होगी?"

"अभी तो ऐसे ही पूजा करते रहो। कुछ समय बाद मैं विद्वान् पुजारियों को भेजूँगा।"

"तब तो अवश्य होगा।"

महल में भिक्षा हुयी। अपने आवासस्थान लौटने पर शंकर बहुत देर तक पृथ्वीधर से विचार-विमर्श करते रहे, "मन्दिर का शुद्धीकरण करके कुम्भाभिषेक करने वाला कोई है क्या?"

"समीप में कोई नहीं है। सब पर बुद्ध का प्रभाव है। आप स्वीकार करें तो आपके मार्गदर्शन से मैं ही यह कार्य करूँगा।"

"तथास्तु।"

महाराज की आज्ञानुसार मन्दिर के पुनर्जीवन की व्यवस्था की गयी। ग्रामाधिकारियों द्वारा लोगों को सूचना दी गयी। ब्राह्मण जिनको वेद का कुछ

ज्ञान था वे एक सप्ताह पहले ही वहाँ पहुँच गये। जो वेदमन्त्र उनको मालूम थे, उनका एककण्ठ से पाठ करके अभ्यास किया। पृथ्वीधर ने एक-एक ब्राह्मण को अलग-अलग जिम्मेवारी सौंपी। कार्यक्रम शास्त्रोक्त रीति से तीन दिन तक चला। अन्तिम दिन कुम्भाभिषेक हुआ। शंकर ने कलश के जल से पशुपतिनाथ का अभिषेक किया। वेदघोष और हवन ऐसी अपूर्व रीति से सम्पन्न किये गये जैसा आज तक किसी ने न देखा था न सुना था। पद्मपाद ने अद्भुत सामगान किया। तरह-तरह के वाद्य-यन्त्र बजाये गये। ग्रामवासियों के नगाड़े और बिगुल उनसे स्पर्धा करते नज़र आये। सहस्त्रों लोगों ने विशाल भोज का आनन्द लिया। बहुत दिनों से लोगों ने ऐसा अद्भुत वैदिक कार्यक्रम नहीं देखा था। सुव्यवस्थित व्यवस्था को देखकर महाराज एवं प्रजा सबने पृथ्वीधर की प्रशंसा की। राजा ने, "मुझे शिष्यरूप से स्वीकार करिये" यह प्रार्थना की। अगले दिन उनको मन्त्रोपदेश हुआ। दो-तीन दिन बाद शंकर जी का परिवार पशुपतिनाथ से काशी की ओर रवाना हुआ।

• • •

अध्याय सात

पुनः काशी

जब वे पशुपतिनाथ में थे, तभी पृथ्वीधर ने तीर्थयात्रियों से 'यहाँ से काशी जाने का समीपस्थ मार्ग कौन सा है? मार्ग में कौन-कौन से तीर्थस्थल पड़ेंगे? जिन मन्दिरों में पूजा रुक गयी है वे कहाँ-कहाँ हैं? विद्वान् लोग कहाँ मिलेंगे?' इन प्रश्नों के उत्तर प्राप्त कर लिये थे। इनको ध्यान में रखकर ही उन्होंने काशी जाने का मार्ग निश्चित किया। जहाँ-जहाँ संभव था, वहाँ अग्रिम ही समाचार पहुँचा दिया जाता था। मार्ग भर में पण्डितों के साथ वेदान्त और मीमांसा की चर्चा, वैदिकवृत्ति से निर्वाह करने वालों को अधिक वेदाध्ययन करने की प्रेरणा, मन्दिरों के सुधार, सामान्य जनों को स्तोत्र सिखाना, और रामायण, महाभारत, पुराणों पर प्रवचन, ये सब कार्य चलते रहे। निश्चित मार्ग के दोनों ओर पड़ने वाले गाँवों के लोगों द्वारा आग्रह करने पर उनके गाँवों में भी जाने के कारण यात्रा में विलंब पड़ता गया। लेकिन उससे क्या? आवश्यक सन्देश सही लोगों तक पहुँच रहा था। संचार का उद्देश्य तो यही होता है न!

एक दिन पद्मपाद बोले, "गुरुजी! सुना है यहाँ से दो घण्टे की दूरी पर स्थित नरसिंहपुर में नरसिंह स्वामी का मन्दिर है। आपकी अनुमति हो तो मैं वहाँ दर्शन कर आऊँ।"

"कब तक लौट आओगे?"

"कल शाम तक वापिस आ जाऊँगा।"

"जाकर आइये।"

मन्दिर पहुँचने के बाद पद्मपाद नरसिंह भगवान् के सामने बैठकर अपने आप को भूल गये। जप और ध्यान समाप्त कर के जब वे वापिस लौटने के लिये तैयार हुये तो मन्दिर के पुजारी ने कहा, "स्वामी जी! कल नरसिंह जयन्ती है। गाँव के सब लोग उत्सव बनाते हैं। भोजन होता है। उसे करके दोपहर को रवाना हो सकते हैं न? नरसिंह जयन्ती के दिन वहाँ रहने का अवसर प्राप्त हो रहा है ऐसा सोचकर पद्मपाद ने अत्यन्त हर्ष के साथ स्वीकार कर लिया।

“अगर आप ही पूजा करेंगे तो हमें बहुत अच्छा लगेगा। “पुजारी ने कहा। “अहो! मेरा सौभाग्य! मुझे अपने आराध्यदेव की पूजा करने का अवसर मिल रहा है।” इस प्रकार भाववश होकर उन्होंने तुरन्त ही स्वीकार कर लिया। अगले दिन उन्होंने बड़ी निष्ठा से पूजा सम्पन्न की। अन्त में उन्होंने ही सामगान किया। उस गाँव के लोगों ने कभी सामगान नहीं सुना था। सब लोग बहुत प्रसन्न हुये। लोगों ने उनसे कुछ दिन वहीं रुकने का अनुरोध किया। पद्मपाद ने यह कहकर क्षमा माँगी कि वे गुरु जी से शाम तक लौटने की प्रतिज्ञा कर के आये थे। इसलिये जाना ही पड़ेगा।

नैवेद्य के लिये अनेक प्रकार की खाद्य सामग्री तैयार की गयी थी। पुजारी जी ने उन सबको एक बड़े थैले में भरकर पद्मपाद जी को दे दिया। वापिस लौटने पर शंकर जी ने उनसे पूछा, “इसमें क्या है?” पद्मपाद ने उन्हें सारा वृत्तान्त कह सुनाया। थैला खोलकर देखने पर शंकर विनोद में बोले, “अब अगले एक सप्ताह तक हम में से किसी को भी भिक्षा के लिये नहीं जाना पड़ेगा। इसमें इतना है।” फिर उन्होंने वहाँ उपस्थित सभी लोगों को प्रसाद बाँटा और स्वयं भी लिया। थैला खाली हो गया।

काशी पहुँचने के लिये उन्हें तीस दिन यात्रा करनी पड़ी। काशी पहुँचते ही शंकरजी के दर्शन के लिये लोगों का समूह उमड़ पड़ा। काशी के विद्वानों को यह पता पड़ चुका था कि उनके द्वारा भाष्य की रचना हो चुकी है। बहुत से विद्वानों ने उसकी प्रतिलिपियाँ बनवा ली थीं। काशी के विद्वानों ने पृथ्वीधर से और विद्यार्थियों ने पद्मपाद से प्रार्थना की वे गुरुजी से कुछ दिन तक वहीं रुककर सूत्रभाष्य पढ़ाने के लिये कहें। जब गुरुजी तक प्रार्थना पहुँची तो उन्होंने कहा, “हम पूरा-पूरा भाष्य पढ़ाने के जितने समय तो यहाँ नहीं रुक सकते, वे तो अभी भाष्य पढ़ ही रहे हैं, अतः उत्तम यही है वे प्रश्न पूछते चलें।” दोपहर में विद्वानों के साथ प्रश्नोत्तर सभा और शाम को सामान्य जनों के लिये प्रवचन होने लगे।

एक दिन दोपहर को एक विद्वान् ने कहा, “तत्त्वमसि वाक्य के विषय में बहुत सन्देह हैं। अगर आप संक्षेप से उसका भावार्थ समझा दें तो बाद में फिर मैं अपने सन्देहों के विषयों में पूछता हूँ।”

“तत्त्वमसि” वाक्य में ‘तत्’ का अर्थ है ब्रह्म जो सत्य, ज्ञान और

अनन्त है। ब्रह्म जगत् का उपादान है इसलिये जगत् के असत्यत्व, जडत्व, परिच्छिन्नत्व की परवाह न करते हुये ब्रह्म, जो कि जगत् में अन्तर्हित है, उसी पर ध्यान देना चाहिये। 'त्वम्' का अर्थ है प्रत्यगात्मा क्षेत्रज्ञ, सुषुप्ति में सिद्ध होने वाला निरुपाधिक प्राज्ञ। जगत् की ओर लक्ष्य न करके, उसी में अन्तर्भूत ब्रह्म पर ध्यान देने के समान, अपने में भी जागृत्-स्वप्न अवस्थाओं में अध्यस्त धर्मों की अवहेलना करके अन्ध्यस्त सुषुप्तात्मा पर ध्यान देने से उसमें ब्रह्म के लक्षण मिलते हैं। उसके निदिध्यासन से ब्रह्म स्वयं ही है यह पता पड़ जाता है।

"क्या ब्रह्म और आत्मा के इस एकत्व का अनुभव हो सकता है?"

"सुषुप्ति के परिशीलन से ब्रह्मात्मैकत्व तो ज्ञात विचार ही है। परन्तु अनादि अध्यास के कारण जाग्रत अवस्था में इस भाव का स्थिर रहना कठिन होता है। अत:, शास्त्र बताता है कि साधनसंपत्ति से जो रहित है उसके लिये यह असाध्य है।"

"योगाभ्यास द्वारा सुषुप्ति में रहने के समान, चित्तवृत्तिनिरोध के द्वारा ये संभव है क्या?"

"नहीं। चित्तवृत्तिनिरोध में कर्तृत्व होता है। ब्रह्मात्मैकत्व में नहीं होता।"

"'तत्त्वमसि' वाक्य को जपने से क्या यह हो सकता है?"

"नहीं। जप करने से कर्तृत्व छूटता नहीं और भी दृढ होता है। बुद्धि को आत्मा में स्थिर रूप से रखने का एकमात्र साधन निदिध्यासन है।"

"इससे भी तो चित्तवृत्तिनिरोध ही होता है न?"

"हाँ। चित्तवृत्तिनिरोध आत्मचिन्तन का फल है, न कि आत्मानुभव का साधन।"

"यह अनुभव एक विशिष्ट अवस्थाविशेष है क्या?"

"नही। जैसे 'मैं पुरुष हूँ' यह भाव वयोवस्था से अतीत होता है, उसी प्रकार आत्मानुभव सभी अवस्थाओं से परे होता है।"

"मेरा प्रश्न यह है: क्या चित्तवृत्ति का निरोध होने पर ही ब्रह्मात्मैकत्व होगा क्या?"

"न न। चित्तवृत्तिनिरोध भी एक अवस्था ही है। वह क्षेत्रधर्म है। आत्मा

और उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं हैं। एकत्व के अनुभव का फल है केवल अध्यास का नाश, और कुछ भी नहीं।"

"अध्यास के नाश से जगत् का तो नाश नहीं हो जाता। इसलिये, ज्ञानी का जगत् के साथ कैसा सम्बन्ध होता है?"

"देखो। ब्रह्म जगत् का उपादान है इसलिये सबकुछ ब्रह्म ही है। यह ब्रह्म मैं हूँ इसलिये मैं ही सर्वस्व हूँ। यही ही है सर्वात्मभाव। इसके बाद जगत् के साथ भेदबुद्धि नहीं रहती।"

× × ×

एक और का प्रश्न था, "आपके भाष्य का अध्ययन कर रहा हूँ। उसमें कहीं पर माया को ब्रह्म की उपाधि कहा गया है, कहीं कहा गया है कि माया ब्रह्म ही है और कहीं कहा गया है यह नहीं कहा जा सकता कि माया ब्रह्म है अथवा उससे अलग है– इसलिये उसे अनिर्वचनीय बताया गया है। ये परस्पर विरुद्ध लगते हैं। इनका समन्वय कैसे होता है?"

"दृष्ट माया द्वारा अदृष्ट ब्रह्म का निरूपण तीन स्तरों में किया गया है। प्रथम स्तर में अज्ञानी को जितनी समझ है उसके आधार पर माया को ब्रह्म की उपाधि बताया गया है। द्वितीय स्तर में शक्ति–शक्त के अनन्यत्व के द्वारा वह ब्रह्म ही है ऐसा कहा गया है। किन्तु ब्रह्म में व्यवहार नहीं है, माया में होता है। अतः, माया ब्रह्म है या नहीं है? ऐसा संशय उत्पन्न होता है। जिज्ञासु का यह संशय ही अनिर्वचनीयत्व का विषय है; इसका अर्थ यह है कि माया के उपाधित्व और अनिर्वचनीयत्व जिज्ञासु की बुद्धि के आधार पर ही कहे गये हैं। स्वरूपतः निर्णय तो यही है कि माया ब्रह्म ही है। नामरूपों के विचार में भी ऐसा ही होता है।

और किसी ने प्रश्न पूछा, "भाष्य में कुछ स्थानों पर कहा गया है कि ब्रह्म केवल श्रुति द्वारा जाना जा सकता है, कुछ स्थानों पर कहा गया है कि श्रुति से भिन्न अन्य प्रमाणों पर आश्रित तर्क द्वारा जाना जा सकता है। कृप्या इसको स्पष्ट कीजिये।"

"देखो, प्रमेय (जो जानने में आते हैं), दो प्रकार के होते हैं– इन्द्रिवेद्य और इन्द्रियातीत। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और आगम, ये पाँच प्रमाण होते हैं। इन्द्रियवेद्य विषयों के लिये पहले चार प्रमाण हैं और इन्द्रियातीत

विषयों के लिये आगम प्रमाण हैं। धर्म और अधर्म प्रकृति से परे हैं अतः, केवल आगममात्र से वेद्य हैं। ऐसा होने पर भी, जीवों की उन्नति के लिये जो धर्म विद्यमान है वह प्रत्यक्ष विषयों पर ही आश्रित होता है। इसलिये, धर्म की जिज्ञासा में आगम अन्य प्रमाणों के विरुद्ध कोई कथन नहीं कह सकता। यह तो हुई कर्मकाण्ड की बात। किन्तु ब्रह्म प्रकृति से परे है इसलिये उसकी जिज्ञासा में अन्य प्रमाणों के लिये कोई स्थान नहीं है न? यह प्रश्न ज्ञानकाण्ड में आता है। ब्रह्म प्रकृति से अतीत होने पर भी उसे जगत् द्वारा ही जानना है। इसलिये, जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं हो जाता तब तक दूसरे प्रमाण आवश्यक हैं। इस स्तर में श्रुति अन्य प्रमाणों के विरुद्ध कुछ नहीं कह सकती। किन्तु ब्रह्मज्ञान होने के पश्चात् निरुपाधिक ब्रह्म के विषय में कहते समय, अन्य प्रमाणों के लिये स्थान नहीं है; केवल श्रुति ही प्रमाण है।"

"इस स्तर में श्रुतिप्रमाण कैसे सिद्ध होता है?"

"निदिध्यासन के बाद उत्पन्न होनेवाले अनुभव से सिद्ध होता है। ऐसा कहें तो सभी प्रमाणों का प्रामाण्य अनुभव से ही सिद्ध होता है। स्वर्गादि लोक इस विषय में अपवाद हैं।

एक बार जब शंकर जी अपने दोनों शिष्यों के साथ बैठे हुये थे तो उन्होंने शिष्यों से पूछा, "मुमुक्षुजन पर्वतों और जंगलों का आश्रय लेते हैं। इसका क्या कारण है?"

"क्योंकि वहाँ शान्ति होती है इसलिये आश्रय लेते हैं।

"मुमुक्षुओं को शान्ति की आवश्यकता क्यों होती है?"

"उसके बिना आत्मचिन्तन नहीं हो सकता।"

"शहरों में शान्ति क्यों नहीं होती?"

"वहाँ स्वभावतः ही राग-द्वेष होते हैं। अतः शान्ति नहीं होती।"

"कुछ लोग राग-द्वेष से रहित होते हैं परन्तु मुमुक्षु नहीं होते पर बाद में मुमुक्षु हो जाते हैं। क्या ऐसे अमुमुक्षुओं को शान्ति की आवश्यकता नहीं होती?"

"होती है।"

"आत्मचिन्तन के लिये शान्ति चाहिये होती है; सामान्य सज्जनों को शान्ति नहीं चाहिये होती क्या?"

"उनको भी चाहिये होती है, किन्तु आत्मचिन्तन के लिये गाढ़ शान्ति चाहिये।"

"शान्ति के लिये सामान्य सज्जनों को कहाँ जाना चाहिये?"

"कुछ देर मौन रहने के बाद पृथ्वीधर बोले, "नहीं पता।"

"बताता हूँ, सुनो, कहकर शंकर ने बोलना प्रारंभ किया "ओंकारेश्वर छोड़ने के बाद मैं गुरुजी की आज्ञानुसार गुर्जर देश गया। वहाँ मैंने देखा कि राग-द्वेष से रहित बहुत से लोग सिन्धु देश से आकर वहाँ बस गये हैं।"

"उन्होंने सिन्धु देश क्यों छोड़ा?"

"सिन्धु देश पर म्लेच्छों ने आक्रमण कर दिया था। उनके उपद्रव के कारण उन्हें स्वधर्मपालन में कष्ट महसूस होने लगा। इसलिये, उन लोगों ने स्थानान्तर कर लिया।"

"वहाँ के राजा क्या कर रहे थे?"

"युद्ध करने पर भी वे जीत न पाये और रणाँगन में ही मारे गये।"

"हारने का कारण क्या था?"

"बौद्ध, जो कि हमारे ही थे, उन्होंने आक्रमण करने वाले म्लेच्छों की सहायता की।"

"हे ईश्वर!" कहकर पृथ्वीधर ने क्रन्दन किया। पद्मपाद भी आँखें फाड़कर सुनते रहे।

"गुरुजी! क्या हुआ था, बताइये।"

"अपने को मुसलमान कहनेवाले कुछ म्लेच्छों ने बौद्धों के द्रोह के कारण युद्ध जीत लिया और हमारे राजाओं को मार डाला। फिर हिंसक पशुओं के समान निहत्थी प्रजा को मार डाला और हमारी स्त्रियों को उठा ले गये। जिन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया उन्हें अपने धर्म में परिवर्तित कर लिया। वे कहते हैं कि उनका धर्म औरों से श्रेष्ठ है। जिस धर्म के अनुयायी ऐसे हों, वह श्रेष्ठ ही होगा न? वे कहते हैं कि उसी का सर्वत्र प्रसार होना चाहिये और इसके लिये वे यही रणनीति अपनाते हैं। प्रजा क्या कर सकती है? सिवाय इसके कि पास के प्रदेशों में स्थानान्तर कर ले।"

बहुत देर तक मौन छाया रहा। सौराष्ट्र में जो शंकर को मालूम हुआ था उन सब विचारों को कहकर अन्त में वह बोले,

"इससे स्पष्ट है कि शान्ति बहुत कारणों पर निर्भर करती है। आत्मचिन्तन के लिये शान्ति चाहिये, शास्त्राध्ययन के लिये शान्ति चाहिये, कर्म करने के लिये भी शान्ति चाहिये, साधारणजनों को भी शान्ति चाहिये होती है। यह शान्ति कैसे पैदा होती है? उसकी रक्षा कैसे की जा सकती है? शान्ति पैदा करने के लिये समर्थ और दूरदर्शी राजा चाहिये। उसे बनाये रखने के लिये राजा और प्रजा धर्मनिष्ठ होनी चाहिये। तभी शान्ति रह सकती है। इस शान्ति के वातावरण में ही मुमुक्षु साधना कर सकते हैं। जब साधना परिपक्व हो जाती है तब वे आत्मचिन्तन के लिये पर्वतों और जंगलों का आश्रय लेते हैं। इसके बारे में आप लोग चिन्तन कीजिये", कहकर उन्होंने अपनी बात समाप्त की।

ये समस्याएँ कभी पृथ्वीधर के मन में नहीं आयी थीं। आज उनको सुनकर वे व्याकुल हो गये। इस शान्ति को बनाये रखने के लिये क्या करना चाहिये? बुद्ध ने शान्ति के लिये ही तो अपने अहिंसक धर्म का उपदेश दिया था न। लेकिन इसका परिणाम क्या हुआ? राजाओं ने युद्ध करना छोड़ दिया और प्रजा देशद्रोही हो गयी। अहिंसा ने हिंसा का मार्ग दिखा दिया। अन्त में स्वयं भी मारे गये। क्या बुद्ध को नहीं मालूम था कि वह जो कह रहे वह असंगत है? या उनके अनुयायियों ने जो उन्होंने कहा था उसका गलत अर्थ निकाला और अन्यों का नाश करके स्वयं भी नष्ट हो गये? जो भी हो, हमें इसको जानने से क्या लाभ है? जो होना था हो चुका। परन्तु इस चिन्तन से एक बात तो स्पष्ट है, कोई कितना भी बुद्धिमान हो, उत्तम हो, वह स्वयं ही यह निर्णय नहीं कर सकता कि समाज के लिये क्या हितकारी है। इसलिये इस समय क्या करना चाहिये इसका निर्णय केवल मेरा अपनी बुद्धि से विचार करके लेना खतरनाक है। फिर दूसरा मार्ग कौनसा है?" पृथ्वीधर इसी सोच-विचार में डूबे रहे। कोई मार्ग दिखायी नहीं दिया। इतने में शाम हो गयी। सन्ध्यावन्दन उन्होंने एक यन्त्र की भाँति सम्पन्न किया। अन्त में जाकर गुरु को नमस्कार किया। न जाने क्यों उठने में उन्हें बहुत देर लगी। उठने पर फिर मन में चिन्तन प्रारंभ हुआ। "यह पहली बार नहीं है कि धर्म की ऐसी ग्लानि हुयी हो। इससे पहले भी आक्रमण हुये हैं; अनादि काल से ही ऐसा होता आ रहा है। विविध रूपों में होता रहा है। परन्तु धर्म तो अनादि काल से बचा ही हुआ है, नष्ट नहीं हुआ। धर्म की रक्षा कैसे हुयी है?

वर्णाश्रम धर्म की अभिवृद्धि से ही रक्षा हुयी है। ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने मिलकर ही यह काम किया है। अतः, मेरे जैसे सामान्य जनों को कुछ नया सोचकर करने की आवश्यकता नहीं है। आर्षों के क्रम का ही अनुसरण करना है। वैदिक सम्प्रदाय को छोड़े बिना, वर्तमान काल के अनुरूप, आचरण में थोड़ा-बहुत परिवर्तन करके आगे बढ़ना चाहिये। परन्तु कालानुरूप जो परिवर्तन करने चाहियें इसका निर्णय हर कोई नहीं कर सकता। हमारे गुरुजी जैसे श्रेष्ठ जन ही कर सकते हैं। मैं तो उनके सैनिक के समान हूँ। वे जो कहेंगे वही करूँगा।" ऐसा पृथ्वीधर ने निश्चय किया।

दो-तीन दिन बाद गुरुजी के आदेशानुसार काशी के विद्वानों और प्रमुख ब्राह्मणों की एक सभा आयोजित की गयी। उसमें शंकर जी ने कहा,

"काशी नगर भगवान् विश्वनाथ और पाण्डित्य के लिये प्रसिद्ध है। देश के सभी भागों से लोग यहाँ आकर अध्ययन करना चाहते हैं। इसका अर्थ यह है कि यहाँ के विद्वानों का स्थान सर्वोपरि है। क्या आपमें से कोई यह बता सकता है कि ब्राह्मणों का कर्तव्य क्या है?"

विरुपाक्ष शास्त्री जी उठ खड़े हुये। भगवद्गीता का एक श्लोक बोलकर उन्होंने कहा कि "शम, दम, तप, शौच, सरलता, शास्त्र पर श्रद्धा, शास्त्रज्ञान और आत्मानुभव, इनके लिये ही ब्राह्मण जन्म प्राप्त करता है। इन गुणों से रहित ब्राह्मण तो केवल ब्रह्मबन्धु है, ब्राह्मण नहीं है।"

तत्पश्चात् शंकर ने पूछा कि ब्राह्मण के विशेष कर्तव्य क्या हैं? परमेश्वर दीक्षित ने उठकर कहा, "पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना, ये सब ब्राह्मण के कर्तव्य हैं। इनमें पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना, ये तीनों वर्णों के कर्तव्य हैं, पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना, ये केवल ब्राह्मण के कर्तव्य हैं।"

अन्त में शंकर जी ने यह सन्देश दिया "विरुपाक्ष शास्त्री जी और परमेश्वर दीक्षित जी ने ब्राह्मणों के कर्तव्य भली-भांति बता दिये हैं। इनमें स्वाध्याय और प्रवचन महान् तप है यह तैत्तिरीय उपनिषद् में बताया गया है। इन दोनों को इतना ऊँचा स्थान क्यों दिया गया है? क्योंकि धर्म इनके आधार पर ही स्थित है। जब तक स्वाध्याय और प्रवचन सम्यक् रूप से चलते रहते हैं तब तक लोगों में धर्मप्रज्ञा रहती है और उनकी लौकिक उन्नति और मोक्ष

धर्म से ही सम्पन्न होते हैं। इसलिये, अध्ययन करना और दूसरों को पढ़ाना, ये ही श्रेष्ठ तप हैं। इसमें भी पुरोहित का कर्तव्य तो अत्यन्त मुख्य है। क्योंकि वह पुर (गाँव, नगर आदि) का हितचिन्तक होता है। वह पुरजनों से पहले ही देखने वाला होता है। श्रुति भी कहती है, 'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः– राष्ट्र में हम पुरोहितों को जागरूक रहना चाहिये।' इसका अर्थ यह है कि पुरोहित स्वयं वैदिक कर्म के अनुष्ठान में लगे रहकर दूसरों को भी अपने कर्तव्य में प्रवृत्त रहने की प्रेरणा देते रहे। एक पुरोहित के लक्षण क्या हैं? वह प्रिय बोलने वाला, सबका सुहृद, समदर्शी, अपनी प्रशंसा न करने वाला, सत्य बोलने वाला, सरल, सूदखोरी न करने वाला, सहनशील, धोखा न देने वाला, संकोची और शम–दम से युक्त होना चाहिये। इन सबका तात्पर्य अगर हम देखें तो समाज में ब्राह्मण का स्थान कितना ऊँचा है यह स्पष्ट हो जाता है। समाज परमात्मा सम है; अर्थात् परमात्मा के समान है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस परमात्मा के अवयव हैं। ब्राह्मण इस परमात्मा के मुख के स्थान में होता है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय और बुद्धि जहाँ काम करती हैं वह मस्तिष्क यहीं होता है। समग्र देह का योगक्षेम सिर पर ही निर्भर करता है। यह सर्वविदित है कि बुद्धि जिसको हितकर निश्चित करती है शरीर उसकी ओर ही जाता है और जिसको अहितकर निश्चित करती है उससे पीछे हटता है। उसी प्रकार, वैदिक परम्परा के आधार पर ब्राह्मण द्वारा निश्चित हित–अहित का ही समाज अनुसरण करता है। ये हित–अहित समय–समय पर बदलते रहते हैं। अतः, समयानुसार समाज के हित–अहित का निश्चय करना ब्राह्मण का कर्तव्य है। इसलिये ब्राह्मण को शास्त्रज्ञ, दूरदर्शी, त्यागी, तपस्वी और समाज के विषय में चिन्ता करने वाला होना चाहिये। आज के सन्दर्भ में इन गुणों की महती आवश्यकता है। कैसे, देखो–

यहाँ से पूर्व दिशा में सिन्धु देश पर लगभग 150 वर्षों से म्लेच्छों का आक्रमण होता रहा है। लोग तरह–तरह के अत्याचार भोग रहे हैं। स्वदेश में निराश्रित हो वे लोग पड़ोस के राज्यों में स्थानान्तर कर रहे हैं। इन बातों को आपको वहाँ से आने वाले तीर्थयात्रियों से जानना चाहिये। इसके लिये ऋषि–मुनियों द्वारा स्थापित तीर्थयात्रा की परम्परा का उपयोग करना चाहिये। प्रसंगानुसार सबका – सामान्यजनों का और राजाओं का, मार्गदर्शन करना चाहिये। ब्राह्मण यदि जागरूक नहीं रहेगा तो निकट भविष्य में आक्रमणकारी

काशी तक आ पहुँचेंगे। तब तक राजाओं का जागृत न रहना ठीक नहीं है। अपनी शाखा के वेद का अध्ययन करने के बाद राजाओं को शासन की ओर ध्यान देना पड़ता है इसलिये उन्हें आगे अध्ययन करने का अवसर नहीं मिलता। राजा बनने के बाद तो अध्ययन दूर की बात हो जाती है। लेकिन ब्राह्मण के लिये अध्ययन ही एकमात्र कर्तव्य है। इन सबको ध्यान में रखकर अपना दायित्व निभाने की आवश्यकता है। तुरन्त जाग जाइये। परिस्थिति हाथ से निकलने की प्रतीक्षा मत कीजिये। विरुपाक्ष शास्त्री जी, क्या और किसी विषय पर भी चर्चा करनी है?"

किसी ने उठकर कहा, "मेरे एक विद्यार्थी ने जो मुझसे प्रश्न पूछा था उसको सामने रख रहा हूँ। बौद्धग्रन्थों को पढ़ने के बाद उसने यह प्रश्न पूछा था। बुद्ध के मतानुसार, वर्ण जन्म से नहीं होता गुणों से होता है। ब्राह्मणकुल में जन्में व्यक्ति में हम तमोगुण की अधिकता देखते हैं। शूद्रकुल में उत्पन्न में सत्त्वगुण का आधिक्य भी हम देखते हैं। अतः, जन्म के अनुसार वर्ण का निश्चय नहीं किया जा सकता ऐसा कहकर बुद्ध ने आर्ष वर्णधर्म को अस्वीकार कर दिया। इसका उत्तर क्या है?"

"क्या आप में से कोई इसका उत्तर दे सकता है?", शंकर जी ने पूछा।

कुछ समय तक मौन रहा। फिर विरुपाक्ष शास्त्री जी बोले, "अच्छा होगा अगर आप ही इसका उत्तर दें।"

शंकर जी ने आरंभ किया, "यह प्रश्न अत्यन्त जटिल है, क्योंकि वेदों, पुराणों और इतिहासों में भी ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है जो बुद्ध के विचारों का समर्थन-सा करते दिखते हैं। ब्राह्मणकुल में जन्म लेकर भी क्षत्रिय बन जाते हैं, शूद्रकुल में जन्म लेकर मन्त्रदृष्टा ब्राह्मण बन जाते हैं। एक-एक के विषय में यहाँ विस्तार से चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है, केवल संक्षेप से विश्लेषण करता हूँ। सबमें सभी गुण होते हैं। एक-एक गुण, एक-एक प्रसंग में, एक-एक व्यक्ति में, एक-एक प्रकार से प्रकट होता है। उदाहरण के लिये, सत्वगुण की प्रधानता होने पर कोई एक जन ध्यानस्थ होता है, कोई दूसरा जन सद्ग्रन्थ पढ़ने बैठ जाता है, एक चोर सहज प्रेम से अपने बच्चे का आलिंगनमात्र करता है। चोर सद्ग्रन्थ नहीं पढ़ता, ध्यानस्थ तो कभी नहीं होता। गुणों की इस जटिलता का कारण जानने के

लिये उनका मूल जानना आवश्यक है। गुण स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे पूर्वजन्मों में किये गये कर्मों के अनुसार उत्पन्न होते हैं। अतः, कर्म जिस प्रकार जटिल हैं उसी प्रकार गुण भी जटिल हैं। वे कब किसमें कैसे पैदा होते हैं यह कोई नहीं बता सकता। आत्मतत्त्व जाने बिना किसी की भी गुणों से मुक्ति नहीं हो सकती। अतः, गुणों के रहते हुये कौन यह निश्चय कर सकता है किन कर्मों को करने से जीव आत्मतत्त्व की ओर अग्रसर होगा? कोई अपने लिये स्वयं निश्चय नहीं कर सकता, ना ही कोई और दूसरों के लिये निश्चय कर सकता है। यहाँ बैठे सब जानते हैं कि धर्म-अधर्म का निर्णय पुरुष बुद्धि द्वारा नहीं किया जा सकता। इनका निश्चय केवल वेद द्वारा ही किया जा सकता है। वेद कहते हैं: ब्राह्मण की सृष्टि यज्ञ करने के लिये हुयी है, क्षत्रिय की सृष्टि यज्ञ की रक्षा करने के लिये हुयी है, वैश्यों की सृष्टि यज्ञ के लिये धन देने के लिये हुयी है और शूद्र की सृष्टि यज्ञ का पोषण करने के लिये हुयी है। इस प्रकार वर्णों की सृष्टि यज्ञ के लिये हुयी है। अतः यज्ञ का अर्थ धर्म की रक्षा ही है। और धर्माध्यक्ष भगवान् हैं जो सबकी अन्तरात्मा हैं। यज्ञ की रक्षा के लिये कौन कौन-सा दायित्व उठा सकता है, भगवान ही इसका निर्णय करके तदनुसार जन्म देते हैं। पूर्वजन्मों में किये गये कर्मों के अनुसार गुणों का निश्चय करके पुरुष को उस-उस वर्ण में जन्म देकर, 'यज्ञ के लिये मेरे द्वारा दिये गये इस दायित्व को यदि तुम निभाते हो तो तुम्हारा श्रेय होगा', इस प्रकार कर्मविधान करते हैं। अतः, पूर्वजन्मों के कर्मों के अनुसार वासना और जन्म को स्वीकार करने वाले बुद्ध का वर्ण का तिरस्कार करना स्वविरुद्ध है। चूंकि गुण सबमें समय-समय पर बदलते रहते हैं, तो क्या बुद्ध एक-एक व्यक्ति के लिये अलग-अलग समय में अलग-अलग वर्ण बताते हैं? वह ऐसा कहने से भी सकुचायेंगे नहीं क्योंकि आखिरकार वह हैं तो क्षणभङ्गवादी ही। आपको यहाँ एक संशय होगा। वेदों, पुराणों ओर इतिहासों में वर्णित कुछ व्यक्तियों ने वर्णधर्म का व्यतिक्रम किया है न? हाँ किया है, परन्तु अपनी असाधारण साधना के बल पर। मन्त्रदृष्टा बनने के लिये शूद्र कवषेण को कितना तप करना पड़ा था। यह भूलकर अगर कोई सामान्य व्यक्ति भी वर्णधर्म का अतिक्रम करने का प्रयत्न करता है तो यह उस सियार के समान होगा जो अपने शरीर पर तपती आग से रेखाएँ खींचकर बाघ बनने की कोशिश करता

है। विशेषकर कलियुग में सबकी योग्यता क्षीण हो गयी है। किसी के द्वारा भी ऐसा साहस करना असाध्य है। अतः, अपने जन्म के अनुसार, शास्त्र द्वारा जो वर्ण के लिये कर्म बताया गया है, उस कर्म के द्वारा जो भगवान् की अर्चना करता है वह सिद्धि को प्राप्त करता है– स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। जब तक वर्णधर्म की रक्षा होती है तब तक लोग सुखी रहते हैं और उसका उल्लंघन होने पर दुःखी होते हैं। कालक्रम से द्वापर के अन्त में ही वर्णधर्म का उल्लंघन प्रारंभ हो गया था। उसका फल भी समाज ने अनुभव किया। कलियुग में इसका उल्लंघन और भी अधिक बढ़ गया है। अतः, समाज में क्षोभ भी अधिक हो गया है। 'यह' कलियुग का प्रभाव है, ऐसा कहकर चुप बैठना भी अधर्म ही है। इसलिये, आप सबको स्वाध्याय–प्रवचननिष्ठ होते हुये अपने धर्म का पालन करना चाहिये। हमारे देश का नाम भारत है। यहाँ लोग ज्ञान में रत रहते हैं। आप भी ज्ञान में रत रहते हुये सबके प्रकाशदाता बनिये", इतना कहकर शंकरजी ने अपना भाषण समाप्त किया।

वहाँ उपस्थित एक विद्वान् ने कहा, "गुरुजी, कुमारिल भट्ट इस समय यही काम कर रहे हैं।"

"मैं उनका नाम जानता हूँ। उनके ग्रन्थ भी पढ़े हैं। वे कहाँ रहते हैं?"

"यहाँ समीप ही, प्रयाग में।"

"ऐसा क्या.....। तब तो उनके साथ मिलना ही है। "ऐसा कहकर शंकर अपने दोनों शिष्यों के साथ प्रयाग की ओर चल पड़े।

× × ×

बौद्ध धर्म को रोकने में कुमारिल भट्ट की भूमिका के विषय में अब कुछ कहना है। लोगों के किसी भी समूह में अधिकतर लोग 'मुग्ध' (विचारों की गहराई से रहित) ही होते हैं। वे सिद्धान्त को नहीं जानते। परन्तु वे अपने समूह के नायकों का श्रद्धा से अनुसरण करते हैं। ये नायक भी दो प्रकार के होते हैं। एक वे होते हैं जो सिद्धान्त को नहीं जानते हैं फिर भी अपने अनुयायियों को उत्तेजित करके उनसे कार्य कराने की क्षमता रखते हैं। ऐसा करते हुये उनका मुख्य लक्ष्य होता है अपने नेतृत्व को बनाये रखना। दूसरे नायक वे होते हैं जिनको सिद्धान्त का ज्ञान होता है। समूह के क्रियाकलापों

में स्पष्ट रूप से नहीं दिखने पर भी प्रभाव तो सिद्धान्तियों का ही होता है। बौद्धसमाज की रचना इसी प्रकार की है। इन उपद्रवकारियों की समस्या समाज ने राजकीय व्यवहार द्वारा हल की है। जो बौद्ध सरल–हृदय थे उनको उनके धर्मानुसार जीवननिर्वाह की सुविधा देकर पुष्यमित्र ने केवल देशद्रोही उपद्रवकारियों को ही मौत के घाट उतारा।[1] साथ–साथ मुसलमानों ने भी उनको नष्ट किया।[2] उनके स्तूपों, संघारामों को, विहारों को और बुद्ध की प्रतिमाओं को भी ध्वस्त कर डाला। बख्तियार खिलजी ने बिहार में प्रवेश करके वहाँ के सभी बौद्धों को मार डाला। समर्पण करने वाले इस्लाम धर्म में परिवर्तित हो गये। कुछ अपने ग्रन्थ लेकर तिब्बत और चीन भाग गये।[3] इस प्रकार बौद्धों की समस्या हल हुयी। परन्तु बौद्धधर्म में प्रेम रखने वाले सामान्यजन तो यहाँ थे ही। विद्वानों को भय था कि इनको यदि इसी प्रकार ही रहने दिया जाये तो समय आने पर फिर वही समस्या खड़ी हो सकती है। वैदिक सिद्धान्त के विद्वानों को इसका एक कारगर समाधान निकालना था। इस समस्या का समाधान था बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों का कारगर रूप से उत्तर देना और उनका प्रचार करने वालों का खोखलापन उनके अनुयायियों के सामने प्रकट करना।

कर्मकाण्ड का आधार लेकर सबसे पहले कुमारिल भट्ट जी ने यह कार्य शुरू किया। उन्होंने विचार किया कि बौद्धमत के दोषों को प्रकट करने के लिये पहले उस धर्म का अध्ययन एक बौद्धगुरु के मुख से ही करना चाहिये। उसके लिये वे एक बौद्ध विद्यार्थी का वेष धारण कर एक बौद्ध गुरुकुल में प्रविष्ट हो गये। वेदों की गंभीरता और गहराई को न जानने वाला वह गुरु बात–बात में अपशब्दों द्वारा वेद की निन्दा करता था। कुमारिल इसको सह न सके और एक दिन वे प्रवचन के बीच में रो पड़े। इससे गुरु और अन्य विद्यार्थी समझ गये कि ये वेदों का भक्त है। बौद्धों को पूर्णतया नष्ट करने वाले मुसलमानों के ऊपर उनको जितना आक्रोश था, उससे अधिक द्वेष और आक्रोश उन्हें कुमारिल पर हुआ। उनको पीटते हुये गुरुकुल से बाहर डाल दिया गया। सीढ़ी से नीचे गिरते समय उनका एक नेत्र चला गया। प्रतिक्रियात्मक रूपी सभी व्यक्तिनिष्ठ धर्मों में ऐसी असहिष्णुता रहती ही है। इतिहास इसका प्रमाण है।

प्रयाग पहुँचकर शंकर ने पथिकों से कुमारिल भट्ट जी के घर का मार्ग पूछा।

"हाय! वे तो मरने वाले हैं", ऐसा कहकर एक पथिक ने उन्हें बताया कि कुमारिल कहाँ मिल सकते हैं।

"क्यों? क्या हुआ?", शंकर ने पूछा।

"क्या कहें, छोड़ो। पागलपन ही है। बौद्ध गुरु से बौद्धधर्म पढ़ने के बाद उन्होंने उसका खण्डन किया। उससे बहुत से लोग अपना अविवेक छोड़कर वैदिक धर्म में वापिस आ गये। इससे सन्तुष्ट होकर वह आजीवन यही कार्य कर सकते थे। परन्तु वह छोड़कर वे अपना देह त्याग रहे हैं। वे कहते हैं कि उनके द्वारा किये गुरुद्रोह का यही प्रायश्चित है! ये कैसा अविवेक है। इतना विद्वान् होने पर भी क्या फल हुआ! धान के छिलकों में आग लगाकर पद्मासन में बैठे हैं। उनका कहना है कि प्रायश्चित के लिये धीरे-धीरे मृत्यु आनी चाहिये।" इतना बोलकर वे सज्जन अपना सिर पीटते हुये आगे चले गये।

शंकर जी ने शीघ्रता से जाकर देखा कि जो उन्होंने सुना था वह सत्य ही था। कुमारिल भट्ट गले तक धान के छिलकों से ढके हुये थे। नीचे से आग जल रही थी और चारों ओर धुआँ फैला था। शंकर को बहुत दुःख हुआ।

"भट्ट जी! मेरा नाम शंकर है। मैं बड़े उत्साह से आपके दर्शन के लिये आया हूँ। यह क्या अविवेक है? तुरन्त नीचे आ जाइये। जो भी बात है उसे हम बातचीत करके सुलझा लेंगे।"

कुमारिल क्षीण स्वर में बोले, "शंकर जी! मैं आपको जानता हूँ। मैंने आपका ब्रह्मसूत्रभाष्य पढ़ा है। वह अद्भुत है। मैं इस समय आपका कोई भी सत्कार करने की स्थिति में नहीं हूँ। नमस्कार करने की भी स्थिति में नहीं हूँ। क्षमा करें।"

"भट्ट जी! धर्म की रक्षा के लिये आपका जीवित रहना आवश्यक है। तुरन्त उठकर आ जाइये।"

"मैं नहीं आ सकता। मेरा निचला हिस्सा जल चुका है।"

"मैं स्वयं उठाऊँगा और कमण्डलु का जल छिड़ककर जीवित करूँगा।" ऐसा कहकर शंकर आगे बढ़े तो कुमारिन चिल्ला उठे, "ऐसा मत कीजिये।

मुझे मेरे हाल पर छोड़ दीजिये। मेरे प्रायश्चित में विघ्न मत डालिये।"

"कुमारिल जी! शुक्रचार्य से संजीवनी विद्या सीखकर देवताओं का जिसने भला किया वह कच क्या गुरुद्रोही था? धर्म की रक्षा के लिये आपने जो सत्कार्य किये हैं उनमें पाप नहीं देखना चाहिये। वेद की निन्दा करने वाला गुरु कैसे हो सकता है? उसका खण्डन करना गुरुद्रोह कैसे हो सकता है? घर में घुसे हिंसक पशु को चतुर उपायों से बाहर निकालने में कोई पाप नहीं हैं। मैं आपको उठाता हूँ।"

"हाय! ऐसा बिल्कुल मत कीजियेगा। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ। मुझे अपने संस्कार के अनुसार रहने दीजिये।"

"अपने भाष्य को अच्छी तरह आपको समझाकर आपके साथ मिलकर धर्मरक्षा के कार्य में लगूँगा, यह सोचकर मैं यहाँ आया था। परन्तु यहाँ तो यह मिला।"

"शंकर जी! मेरा शिष्य मण्डन मिश्र यह कार्य करेगा। मुझे भूल जाइये।"

कुछ समय बाद कुमारिल भट्ट चल बसे। वहाँ से निकलते हुये शंकर जी अपने शिष्यों से बोले, "स्वयं जी अपने शरीर को जलाकर धीरे-धीरे मरना कितनी तीव्र सहनशक्ति की ओर संकेत करता है। जब धर्म को एकदेशीय रूप से ग्रहण किया जाता है तब कितना अविवेक होता है यह उसका एक ज्वलन्त उदाहरण है।"

मण्डन मिश्र से मिलने के लिये शिष्यों के साथ शंकर माहिष्मती नगर की ओर रवाना हुये।

• • •

1. Rhys Davids : Journal of Pali Text Society (1896) – 'There is no proof to establish any deliberate preplanned or systematic attempt on the part of vedic rulers to annihilate the Buddhists. The very idea of forcible extinction is basically wrong.'
2. Vincent Smith : Early History of India – p.382.
3. Vincent Smith : Early History of India – p. 420.

अध्याय आठ

प्रयाग से माहिष्मती

कुमारिल भट्ट के शिष्य मण्डन मिश्र पाण्डित्य में अद्वितीय थे। उनकी धर्मपत्नी उभय भारती भी उन्हीं के समान विदुषी थी। विवाह से पहले ही वे एक दूसरे की विद्वता के विषय में सुनकर परस्पर अनुरक्त हो चुके थे। दोनों के कुल भी पाण्डित्य और सम्प्रदायानुसार रहने के लिये प्रसिद्ध थे। ये दोनों तो अपने कुल के मुकुटमणि ही थे। इनका विवाह बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ।

विवाह के बाद मण्डन अपने नित्यकर्म से निवृत्त होते ही कर्मविचार की चर्चा और जिस शास्त्र के अध्ययन के लिये बैठे होते उसे शास्त्र की चर्चा में और अध्ययन के बाद उसमें पायी गयी समस्याओं पर उभय भारती से विचार करते। इस प्रकार उन दोनों का ही जीवन शास्त्रमय था। उनका आपस में सरस संलाप भी विद्वतापूर्ण हास्य से युक्त रहता था। लोग इस दम्पत्ती को ब्रह्मा-सरस्वती की जोड़ी कहते थे। मण्डन मिश्र मीमांसाशास्त्र में 'शास्त्रकेसरी' की विभूति से सम्मानित थे।

मण्डन मिश्र जी का घर विशाल था। वह सदैव बच्चों से, दूर-दूर से अध्ययन करने आये मेधावी शिष्यों से, चर्चा के लिये आये हुये तेजस्वी विद्वानों से तथा बन्धुओं और मित्रों से भरा रहता। मण्डन जी तब साठ वर्ष के थे।

प्रयाग से निकलकर शंकर दोपहर से पहले ही माहिष्मती नगर के बाहर पहुँच गये। उनके मार्ग के पास ही एक तालाब था। उसमें कपड़े-बर्तन धोती, गाती और हँसती हुयी महिलाएँ अपनी ही दुनिया में मग्न थीं।

"पद्मपाद! मण्डन जी का घर कहाँ है यह उनसे पूछकर आओ", शंकर ने कहा। पद्मपाद अपना सिर झुकाकर वहाँ गये और सिर झुकाये हुये ही पूछताछ की। तीन-चार मिनट बीत गये। मार्ग तक उनकी आवाज तो नहीं पहुँच रही थी परन्तु हँसी सुनायी दे रही थी। पद्मपाद गम्भीर मुख लेकर

लौटे और बोले, "सीधे जाने पर एक केले का बाग आयेगा। उसके बाद दाएँ मुड़ने पर दाईं ओर अन्तिम घर उनका है। हमारे वहाँ पहुँचते ही पिन्जरे में तोते चहचहाने लगेंगे।"

"इतनी सी बात के लिये इतनी देर किसलिये लग गयी और वे हँस किसलिये रही थीं?"

"उन्होंने जो कहा वह सब कहने में मुझे संकोच होता है।"

"चिन्ता मत करो बोलो।"

"उन्होंने कहा कि आपके जैसे न जाने कितने संन्यासी वाद करने आये। मण्डन जी ने उन सबको हराया और उनसे प्रायश्चित कराकर फिर गृहस्थाश्रम स्वीकार कराया। न जाने अब हमारे गाँव की किस कन्या के विवाह का समय आया है। ऐसा कहकर वह जोर से हँस पड़ी।"

शंकर भी हँस पड़े। पृथ्वीधर के मुख पर मुसकान छा गयी। पद्मपाद बिलकुल नहीं हँसे। तीनों मण्डन के घर की ओर चल पड़े।

उस दिन मण्डन जी के घर पर उनके पिता का श्राद्ध था। घर का मुख्य द्वार बन्द था। घर के सामने रंगोली भी नहीं सजी हुयी थी। कुतपकाल (दोपहर 11: 40 से 12: 20 का समय) में मण्डन ने निमन्त्रित ब्राह्मणों के चरण धोये। अब भोजन का समय था। उसी समय शंकरपरिवार आ पहुँचा। उनके आते ही "वेद स्वतन्त्र प्रमाण हैं या उनको किसी और प्रमाण की अपेक्षा है? कर्मफलदाता कर्म है या ईश्वर है? जगत् नित्य है या अनित्य है?" ऐसी शुकवाणी सुनायी पड़ी। शंकर ये सुनकर महान् अचरज में पड़ गये। अगर मण्डन जी के घर के तोते ऐसे हैं तो वे स्वयं कैसे होंगे! तोतों का शब्द सुनकर पास के घरों से लोग बाहर निकल आये और शंकर परिवार को देखकर बोले "आज उनके घर पर श्राद्ध है। वहाँ आपको भिक्षा नहीं मिलेगी। आप हमारे घर आ जाइये।"

"उनके दर्शन के बाद ही भिक्षा होगी" शंकर ने कहा।

"आज शाम से पहले उनका दर्शन नहीं हो सकता।"

शंकर चुपचाप देखते रहे। इस बीच एक बालक दौड़ता हुआ पीछे से घर में घुसा और चिल्ला कर बोला, "कुछ संन्यासी आये हैं।" दोनों शिष्यों

को बाहर चबूतरे पर बिठाकर शंकर, जिस मार्ग से वह बालक अन्दर गया था, उसी पीछे के द्वार से घर में प्रविष्ट हुये। साठ से भी अधिक उम्र के कर्मठ मण्डन हाथ में काले तिल और दर्भ लिये खड़े थे। सोलह वर्ष का एक संन्यासी घर के पिछले हिस्से में खड़ा था। क्रोध के मारे मण्डन का शरीर ऊपर से नीचे तक काँपने लगा। सामने का द्वार बन्द होने पर भी यह पिछले द्वार से आया था न!

"कहाँ से मुण्डी?" मण्डन ने पूछा–

"गले से ऊपर।"

दाँत किटकटाते हुये मण्डन ने कहा, "मैने आपके आने के मार्ग को पूछा है।"

"अच्छा! क्या कहा मार्ग ने?"

"उसने कहा तुम्हारी माँ विधवा है।"

"हाय! मार्ग से बात करने पर उसने आपको डाँट लगायी।"

"क्या बक रहे हो? सुरापीत है क्या?"

(अर्थात् 'शराब पीये हुये है क्या?)"

"नही, सुरा पीत (पीली) नहीं, श्वेत होती है।"

"अच्छा! तो तुम सुरा का वर्ण भी जानते हो।"

"मैं केवल उसका वर्ण जानता हूँ। आप तो उसका स्वाद भी जानते हैं।"

इस प्रकार मण्डन के एक-एक प्रश्न का वाच्यार्थ स्वीकार करके उस बाल संन्यासी के दृढ उत्तरों को सुनकर वहाँ आमन्त्रित ब्राह्मण पहले तो विस्मित हुये फिर भयभीत हो गये। वे समझ गये कि यह कोई सामान्य संन्यासी नहीं है। उन्होंने मण्डन को शान्त करना ही उचित समझा और बोले,

"मण्डन जी! आज श्राद्ध है। किसी भी कारण से क्रोध नहीं करना चाहिये। विष्णुस्थान पर इनको ही बिठाइये।"

ब्राह्मण के वचन का उल्लंघन नहीं हो सकता। यत्न से अपने को शान्त करते हुये मण्डन ने पूछा, "आपका नाम क्या है?"

"शंकर कहते हैं।"

"विष्णुस्थान में बैठकर भोजन कीजिये। आपके पाँव धोता हूँ आइये।"

"मण्डन जी! मेरे साथ दो व्यक्ति और हैं। वे बाहर बैठे हैं।"

"उनका भोजन बाद में होगा। पहले आप कर लें" यह कहकर मण्डन ने शंकर जी के पैर धोकर भोजन के लिये बिठाया। मण्डन जी आपोशन डालने ही वाले थे कि शंकर ने उन्हें रोककर कहा,

"महाभाग! मैं केवल अन्न की भिक्षा लेने नहीं आया हूँ। पहले वादभिक्षा के लिये आपोशन डालिये।"

"ऐसा ही हो। "मण्डन ने उत्तर दिया।

"कब से आरंभ करें?"

"कल से।"

आपोशन डालते समय मण्डन का हाथ काँप रहा था। अन्दर से तीक्ष्ण दृष्टि से सब देखते हुये उभय भारती देवी की दाहिनी आँख फड़कने लगी। भोजन के बाद बन्धुओं के साथ दोनों शिष्यों का भोजन हुआ। तत्पश्चात् तीनों पास ही एक मन्दिर में चले गये। वाद होने वाला है, यह समाचार दावानल की तरह नगर में चारों ओर फैल गया। अगले दिन यह बात आसपास के गाँवों तक भी फैल गयी।

अगले दिन घर के विशाल आँगन में सभा की व्यवस्था की गयी। प्रवचन और ऐसी सभाएँ कभी-कभी इसी स्थान पर होती रहती थीं। वहीं एक मंच था जिस पर आमने-सामने दो आसन लगा दिये गये। इसके साथ ही व्यवस्था पूरी हुयी। माहिष्मती के सभी विद्वान्, विद्यार्थी और आसपास के गाँववाले, सब समय से पहले ही वहाँ पहुँच गये। शंकर भी समय से पहले ही पहुँचे। व्यवस्था करने वालों में से किसी एक ने उनको आसन दिखाकर बैठने के लिये कहा तो उन्होंने मुस्कराकर अस्वीकार कर दिया और दीवार के पास रखे एक और आसन पर जाकर बैठ गये। इतने में मण्डन जी ने प्रवेश किया। सब लोग खड़े हो गये। शंकर भी तुरन्त उठकर गये और मण्डन जी का हाथ पकड़कर ले आये और कहा, "आप बैठिये"।

"आप बैठिये", मण्डन ने कहा।

"ऐसा नहीं। आप बड़े हैं। पहले आपको बैठना चाहिये", ऐसा कहकर उनके बैठने के बाद स्वयं भी बैठे।

सभा में इतना मौन था कि सुई गिरने का भी शब्द सुनायी दे सकता था। किन्तु मण्डन जी के मन में तो हलचल मची हुयी थी, "कल यह जैसा था, आज वैसा नहीं है। यह कौन हो सकता है? इसकी गहरायी का तो पता ही नहीं पड़ रहा है।" उन्होंने अपने मन को शान्त करके, और यह देखकर की सब व्यवस्था ठीक-ठाक है, पूछा," क्या आरंभ कर सकते हैं?"

"हाँ कर सकते हैं, परन्तु एक अध्यक्ष भी चाहिये।"

"ओह! ऐसा क्या?" कहकर मण्डन जी ने उपयुक्त व्यक्ति को ढूंढने के लिये सभी की ओर दृष्टि घुमायी। जहाँ-जहाँ उनकी दृष्टि जाती वहीं सारे विद्वान् अपनी नज़र झुका लेते। कोई भी इस दायित्व को लेने के लिये तैयार नहीं था। आखिरकार बैठी हुयी स्त्रियों में से एक ने कहा, "माता जी बन सकती हैं न!" मण्डन ने शंकर की ओर देखा। शंकर ने कहा, "ऐसा ही हो।"

हँसते हुये मण्डन की आँखें खुली की खुली रह गयीं। उन्होंने कहा, "क्या आप सहमत हैं?"

"अवश्य।"

बात घर के अन्दर तक पहुँची। उभय भारती जी बाहर आयी और पूछा, "क्या हुआ?"

"आप सभी की अध्यक्षता सँभालें ऐसा एक विचार आया है। शंकर जी ने इसे स्वीकार कर लिया है।"

शंकर से फिर पूछा गया, "आर्यपुत्र! क्या आपको स्वीकार है?"

"महाभाग! मैं प्रयाग में ही आपके पाण्डित्य के विषय में बहुत सुन चुका हूँ। आप किसी प्रकार का सन्देह न करें", शंकर ने कहा। मण्डन जी के निर्देशानुसार तृतीय आसन की व्यवस्था की गयी। देवी ने घर की जिम्मेवारी किसी और पर डालकर अध्यक्ष के आसन को अलंकृत किया। सभा में जोर की तालियाँ बज उठीं, विशेषकर महिलाओं की ओर से। अध्यक्षा ने कहा, "गुरुकुल के सचिव श्री यज्ञनारायण दीक्षित जी पहले शांतिपाठ करेंगे।"

दीक्षित जी खड़े हुये और "नमस्सदसे नमस्सदसस्पतये नमस्सखीणां पुरोगाणां चक्षुषे सर्वमायुरुपासताम्" कहकर बैठ गये।

अध्यक्षा ने कहा "पहले आप दोनों अपना-अपना पक्ष रखिये, उसके बाद अपनी प्रतिज्ञाएँ करिए। उन्होंने मण्डन जी से पहले बोलने के लिये कहा। मण्डन जी का पक्ष और प्रतिज्ञा इस प्रकार थी:

"दु:ख के निवारण के लिये और सुख की प्राप्ति के लिये एक ही मार्ग है और वह है वैदिक कर्म। वेद, जो कि नित्य हैं, बताते हैं कि जीवन में दु:ख का कारण है प्रतिषिद्ध कर्म, और सुख प्राप्त करने के लिय काम्य कर्म को कहते हैं। कर्म ही फलदाता होता है। जिनका फल नहीं बताया गया है, ऐसे जो नित्यनैमित्तिक कर्म हैं, वे विधि हैं। जो इनको नहीं करता वह काम्य कर्म का भी अधिकारी नहीं होता। जीवन की सार्थकता इसी में है कि मनुष्य प्रतिषिद्ध कर्मों को त्यागकर, नित्य- नैमित्तिक-काम्य कर्मों को करता हुआ सदा सुख से रहे। जो पुनरावृत्ति से रहित मोक्ष को चाहते हैं वे इसी जन्म में काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मों को भी त्यागकर केवल नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करें। इससे न सुख-दु:ख रहते हैं न प्रत्यवाय दोष लगता है। इसका तात्पर्य यह है कि बिना कर्म के न तो सुखप्राप्ति होती है न मोक्ष होता है। इसके लिये वेद ही प्रमाण हैं।"

"अगर मैं अपने पक्ष को सिद्ध करने में असफल रहा और आपने अपने पक्ष को सिद्ध कर दिया तो मैं आपका शिष्य बन जाऊँगा।"

फिर अध्यक्षा ने शंकर को अपना पक्ष और प्रतिज्ञा रखने के लिये कहा।

शंकर ने कहा, "जगत् अनित्य है। इस लोक और परलोक के सुख भी अनित्य हैं। जीव और जगत् में जो जीव की भेदबुद्धि है, वही कर्म का आधार है। लेकिन जीव और जगत् दोनों एक ही ब्रह्म हैं। वह आनन्दस्वरूप है। वह मैं ही हूँ, इस अवगति से जीव को आत्यन्तिक सुख मिलता है। इस सुख का कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके लिये उपनिषद ही प्रमाण हैं।"

"मेरी प्रतिज्ञा यह है: यदि आप अपना पक्ष सिद्ध कर देते हैं तो मैं आपका शिष्य बन जाऊँगा, या मेरे पक्ष को अगर असिद्ध कर देते हैं, तो भी

मैं आपका शिष्य बन जाऊँगा। क्या अब मैं प्रश्न पूछ सकता हूँ?" शंकर ने अध्यक्षा की ओर देखा।

"पूछ सकते हैं।"

"आपने कहा कि कर्म ही फलदाता है। फिर भी यह प्रत्यक्ष है कि किया गया कर्म उसी क्षण नष्ट हो जाता है। तो फिर फलदाता कैसे हो सकता है?"

"कर्म फल देकर ही नष्ट होता है। समय आने पर भोक्ता उस फल को भोगता है।"

"भोक्ता से सम्बन्ध होने से पहले ही उसे फल कैसे कह सकते हैं?"

"ऐसा नहीं। किया हुआ कर्म 'अपूर्व' इस अवस्थाविशेष को प्राप्त होता है। इस अपूर्व के द्वारा ही फलप्राप्ति होती है।"

"कर्म की जो अवस्थाविशेष अपूर्व है, वह कर्म के समान ही अचेतन है। फिर वह स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त होकर भोक्ता को फलप्राप्ति कैसे करा सकती है?"

"यह कहकर आप श्रुति पर आक्षेप कर रहे हैं; क्योंकि, 'स्वर्गकाम ज्योतिष्टोम यजेत' इत्यादि विधिवाक्यों में श्रुति एक कर्ता को लेकर केवल कर्म और फल इन दोनों को ही कहती है। इसलिये श्रुति में सन्देह न करके कहना चाहिये कि कर्म ही फलदाता है। प्रत्यक्ष में भी, सर्दी में कम्बल ओढ़ने से ही गर्मी होती है न! तो फिर कर्म ही फलदाता क्यों नहीं हो सकता?"

"फलदाता के विषय में यदि श्रुति मौन होती तो यह सन्देह करना बन सकता था। किन्तु श्रुति तो स्पष्टतया ईश्वर को ही फलदाता बताती है। 'स वा एष महानज आत्मा अन्नादो वसुदानः'। इतना ही नहीं, कर्मफलप्रदान के लिये आवश्यक धर्म-अधर्म कराने वाला भी ईश्वर ही है। 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो उन्निनीषते, एष उ एव असाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते'-जिन्हें इन लोकों से ऊपर उठाना चाहता है, उनके द्वारा अच्छे कर्म कराता है; जिन्हें नीचे गिराना चाहता है उनसे यही ईश्वर बुरे कर्म कराता है। आपके द्वारा की गयी अपूर्व की कल्पना का मैं विरोध नहीं कर रहा हूँ। मैं तो यह कह रहा हूँ कि कर्म अथवा अपूर्व के

आधार पर ईश्वर फलदाता होता है। और कम्बल के दृष्टान्त में भी जो कर्म और उसके फल को जानता है वह चेतन ही कम्बल को ओढ़ने के कर्म में प्रवृत्त होता है और तत्काल ही प्रत्यक्ष फल को प्राप्त कर लेता है। परन्तु वैदिक कर्मों का कर्त्ता तो कर्म और फल के सम्बन्ध को नहीं जानता; वह फल तो देश–काल–निमित्तों का आश्रय लेकर अपने समय पर होता है। इसलिये, अचेतन कर्म में अथवा अचेतन अपूर्व में कर्ता की प्रवृत्ति होना असाध्य है। ईश्वर से ही होता है।"

इतना कहकर शंकर ने कुछ क्षण मौन रहकर प्रत्याक्षेप की प्रतीक्षा की। प्रत्याक्षेप के अभाव में उन्होंने आगे कहना प्रारंभ किया,

"वेद में कर्म के साथ कहे गये देवता को आप कर्मांग के रूप में क्यों नहीं स्वीकार करते?"

"देवताओं को विग्रहवत्त्व नहीं होता। वह इस प्रकार है, जैसे एक ही ब्राह्मण एक ही समय में बहुतों से भोजन नहीं ले सकता, उसी प्रकार एक ही समय में हो रहे बहुत से यज्ञों में एक ही देवता हवि नहीं स्वीकार कर सकता।"

"आपका दृष्टान्त युक्त है, परन्तु सभी कर्म ऐसे नहीं होते। उदाहरण के लिये, एक ही समय में अनेक लोग एक ही व्यक्ति को नमस्कार कर सकते हैं। उसी प्रकार, शरीरयुक्त एक ही देवता को एक ही समय में अनेक व्यक्ति द्रव्य अर्पित कर सकते हैं। इसलिये, देवताओं के विग्रहत्व और कर्म–इनमें विरोध नहीं है।"

"यह मानने योग्य बात है। लेकिन अगर देवता का शरीर है तो वेद के प्रामाण्य की हानि होती है।"

"वह कैसे?"

"शब्द, अर्थ, और इन दोनों का सम्बन्ध, इन तीनों की नित्यता के आधार पर ही वेद का प्रामाण्य सिद्ध होता है। इन्द्रादि देवताओं का यदि शरीर होता है तो उनके मरने के बाद यह सम्बन्ध टूट जायेगा; इससे वेद के प्रामाण्य की हानि होती है न?"

"वेद में कहे गये इन्द्र आदि शब्द, इन्द्र आदि पदवियों को सूचित

करते हैं न कि पैदा होकर मरने वाले इन्द्र आदि व्यक्तियों को। इन्द्र आदि शब्द, सेनापति आदि शब्दों के समान स्थानसूचक हैं न कि व्यक्तिसूचक। इन्द्र आदि शब्दों का नित्यसम्बन्ध है इन्द्र आदि पदों के साथ। इन्द्र आदि व्यक्तियों की सृष्टि तो 'एते' इत्यादि शब्दों से होती है। प्रजापति ने 'एते' से देवताओं की, 'इन्दवः' से पितरों की सृष्टि की है। श्रुति यह भी बताती है कि इन देवताओं के अनेक रूप होते हैं। 33 देवताओं को कहकर श्रुति उन देवताओं का एक ही देवता में अन्तर्भाव करती है। 'वह देवता कौन है?' ऐसा पूछकर श्रुति उसको प्राण कहती है। अतः एक ही समय में एक ही प्राण के अनेक रूप होते हैं। अतः एक ही देवता, एक ही समय में हो रहे बहुत सारे यज्ञों में अपने को अनेक रूपों में विभाजित करके कर्मांगता को प्राप्त कर सकता है। देवताओं में अन्तर्धान होने की शक्ति होती है अतः वे अप्रत्यक्ष रूप से कर्मों में भाग ले सकते हैं।"

भण्डन जी के मौन को देखकर शंकर ने आगे कहना शुरू किया, "आपने एक विचार रखा था कि नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से प्रत्यवाय दोष का निवारण होता है, काम्य-प्रतिषिद्ध कर्मों के त्याग से स्वर्ग-नरक का निवारण होता है। प्रारब्ध का उपभोग से क्षय होता है। इस प्रकार जीवन बिताने से शरीर छूटने के बाद पुनर्जन्म के लिये कोई कारण नहीं रहता-अर्थात् वह मोक्ष प्राप्त करता है। क्या मैंने आपके पक्ष का सही रूप से निरूपण किया है?"

मण्डन जी ने "हाँ" में उत्तर दिया।

"इस कल्पना के लिये कोई प्रमाण नहीं है। यह दुविधाजनक भी है क्योंकि यह संचित कर्म को बिल्कुल स्थान नहीं देता है, ना ही यह इस जन्म में किये गये कर्मों को (आगामी कर्म) अपनी गणना में लेता है। इन संचित और आगामी कर्मों के फलों को भोगने के लिये तो जन्म होंगे ही।"

"अब किये जाने वाले नित्य-नैमित्तिक कर्म संचित और आगामी का नाश कर सकते हैं न?"

"ऐसा नहीं। पहले नित्य-नैमित्तिक कर्मों का प्रत्यवाय दोष के निवारण के सिवाय और कोई फल नहीं है ऐसा कहकर अब दूसरे फल को कहना

उचित नहीं है। फल होता है ऐसा कहा तो वह पुण्य ही होगा। नित्य–नैमित्तिक कर्म संचित और आगामी कर्मों के पाप को तो नष्ट कर सकते हैं, पुण्य को नष्ट नहीं कर सकते हैं, वे तो अभी जो पुण्य है उसमें और पुण्य जोड़ देते हैं। और फिर ये संचित और आगामी के पापों को पूर्णतया नष्ट कर देते हैं यह निश्चित तौर पर कहा भी तो नहीं जा सकता। इस प्रकार नित्य–नैमित्तिक कर्म करने पर भी पाप–पुण्य दोनों बचे रह जाते हैं। और, जब तक कर्तत्व रहता है, तब–तक पुण्य–पाप रहते ही हैं। अतः, मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती।"

"यह सही है कि कर्तृत्व बुद्धि से किये गये कर्म अनर्थकारी होते हैं; लेकिन कर्तृत्वशक्ति तो अनर्थकारी नहीं होती न!"

"ऐसा नहीं। कर्तृत्व बुद्धि से किये गये कर्मों के अनुसार ही ईश्वर कर्तृत्वशक्ति देता है। कर्तृत्व बुद्धि में पुण्य अथवा पाप कर्म करने की प्रवृत्ति अवश्य रहती है। और कर्तृत्व बुद्धि कर्म से नष्ट नहीं होती, बल्कि और अधिक पुष्ट होती है। अतः, कर्म से अपुनरावर्ति सर्वथा असाध्य है।"

सब मौन थे। जब बहुत देर तक मण्डन की ओर से कोई प्रत्याक्षेप नहीं आया तो अध्यक्षा ने उनसे कहा, "अब आप परपक्ष का निराकरण करने के लिये अपना वाद आरंभ कर सकते हैं।"

मण्डन जी ने कहा, "आपके द्वारा कथित ब्रह्मात्मभाव में विद्यमान उपनिषदुक्त ब्रह्म क्रियासम्बन्ध से रहित है। उसमें हानोपादान नहीं हैं। इसलिये, उससे कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि जो वाक्य क्रिया को नहीं बताते वे व्यर्थ होते हैं ऐसा शास्त्र स्पष्ट कहता है।"

"ऐसा नहीं है। उपनिषद के शब्द और वाक्य निस्सन्दिग्ध रूप से उस प्रकार के ब्रह्म को ही बताते हैं। वह व्यर्थ नहीं हो सकते।"

"शारीरिकक्रिया के सम्बन्ध से रहित होने के कारण उनको व्यर्थ नहीं कहा गया है। वे वाक्य कर्त्ता का स्वरूप और देवता का निर्धारण करते हैं, यदि यह स्वीकार किया जाये तो उसके द्वारा ब्रह्म उपासनाकर्म का अंग होता है। परन्तु वह भी नहीं हो तो व्यर्थ है, यह कहा है।"

"वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि, ब्रह्मात्मभाव में 'तत्केन कं पश्येत्' अर्थात् किससे किसको देखे यह कहकर कर्तृत्व का ही निराकरण किया

गया है। हानोपादान से रहित होने के कारण उपासनाविधि का अंग जो नहीं है वह ब्रह्म अपुरुषार्थ नहीं है, बल्कि सब क्लेशों का नाशरूप श्रेष्ठतम पुरुषार्थ है। अतः, विधिसम्बन्ध से रहित वाक्यों का अर्थ नहीं है इस कर्मकाण्ड के नियम को स्वीकार करके ज्ञानकाण्ड में भी यही नियम होता है यह कहना ठीक नहीं है।"

"ब्रह्म को न जानकर की गयी ब्रह्मोपासना निष्फल होती है; इसलिये, जो ब्रह्म उपासना के लिये कहा गया है वह ठीक है। आत्मेत्येवोपासीत–आत्मा ही समझकर उपासना करनी चाहिये', यह श्रुति में ही कहा गया है न?"

"यह ठीक नहीं; क्योंकि, कर्म के ज्ञान में और ब्रह्म के ज्ञान में महान् अन्तर होता है। शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्म, कर्मज्ञान के विषय होते हैं। सुख उस कर्म का फल है। कर्त्ता के अर्थित्व और सामर्थ्य के अनुसार इस फल में अन्तर होता है। अतः, कर्मी शरीरी का प्रिय और अप्रिय से मोक्ष नहीं होता। किन्तु ब्रह्मज्ञान का फल अशरीरत्व है। अशरीरी को प्रिय भी नहीं है अप्रिय भी नहीं है। अशरीरत्व ही मोक्ष है। वह कर्म का फल नहीं है।"

"कर्म के फल और ब्रह्मज्ञान के फल में एक भेद और है। कर्मफल अनित्य है; ब्रह्मज्ञानफल नित्य है और धर्म का अर्थ कर्म ही है। अशरीरत्व और धर्म का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। 'अन्यत्र धर्मात् अन्यत्र अधर्मात्, अन्यत्रास्मात् कृताकृतात् अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च–वह धर्म से भिन्न है अधर्म से भी भिन्न है। कार्य–कारण से भी भिन्न है, भूत और भविष्य से भी भिन्न है।' ऐसा कठश्रुति कहती है। और आगे श्रुति कहती है, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति–ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है'। इसलिये, ब्रह्मज्ञान में उपास्य–उपासक के भेद के लिये अवसर ही नहीं रहता; अतः, ब्रह्मज्ञान उपासना का अंग नहीं हो सकता। 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते–उसी को ब्रह्म जानो, 'यह' कहकर जिसकी उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है', ऐसा श्रुति साक्षात् ही कहती है।"

"यह कैसे कहा जा सकता है कि ब्रह्म का क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं है? उसको जानना तो बुद्धि की क्रिया ही है न?"

"नहीं! अन्यदेव तद्विदितात् अथो अविदितादधि–यह ज्ञात और अज्ञात दोनों से भिन्न है'।"

"ऐसी वस्तु किसी के भी अनुभव में नहीं है। जो वस्तु होती है वह अनुभव में आती ही है। किसी के भी अनुभव में नहीं आती तो उसका अस्तित्व ही नहीं सिद्ध होता।"

"ऐसा नहीं है। जानने में आनेवाला और जानने में नहीं आने वाला स्वयं ही है। अपने से भिन्न को ही जाना जा सकता है। इस प्रकार अन्य सबको जाननेवाला सबसे भिन्न सुषुप्ति में सिद्ध होता है। माण्डूक्य श्रुति उसे प्राज्ञ कहती है। यह मन की उपाधि से रहित होता है। अतः, उसे जाना नहीं जा सकता। परन्तु वह स्वयं ही है अतः उसे न जानना भी असाध्य है, यही ब्रह्म है।"

"आत्मा मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः– इसमें तव्य प्रत्यय का प्रयोग करके यह बताया गया है कि आत्मा मनन और निदिध्यासन दोनों के लिये युक्त है। तव्य प्रत्यय विधि को सूचित करता है। ऐसे में निदिध्यासन उपासना ही तो हुयी न?"

"ऐसा नहीं है। मुमुक्षु आत्मा के अन्वेषण में लगे रहने पर भी, अनादि वासना के बल से उसका मन बाहर प्रवृत्त होता ही है। वहाँ से उसे हटाकर मन को प्रवाह रूप से आत्मा की दिशा में ले जाने के लिये निदिध्यासन बताया गया है। यह विधि नहीं है; यदि यह उपासनाविधि होती तो कालक्रम से अपने से भिन्न किसी को प्राप्त कराती ही। परन्तु अपने द्वारा स्वयं को ही प्राप्त किया जाता है, और यह प्राप्ति अभी और यहीं होती है। अतः, यहाँ प्रयुक्त तव्य प्रत्यय विधिच्छाया प्रयोग है विधि प्रयोग नहीं है।"

"यदि ऐसा है तो, 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्–शास्त्र का अर्थ क्रिया ही है ; अतः, क्रियातात्पर्य से रहित वाक्य निरर्थक हैं, यह शास्त्रवाक्य झूठा नहीं हो जायेगा?"

"ऐसा नहीं। भेद पर आधारित कर्मकाण्ड में यह नियम होता है। किन्तु औपनिषदपुरुष का बोध कराने वाले ज्ञानकाण्ड में उसका अन्वय नहीं करना चाहिये।"

"लेकिन औपनिषदपुरुष का श्रवण किये हुये लोगों में भी श्रवण से पूर्व वाली भेदबुद्धि देखने में आती है। अतः, यह नहीं कह सकते कि आत्मप्राप्ति अभी और यहीं होती है।"

"श्रवणमात्र से ही आत्मप्राप्ति नहीं हो जाती है। मनन और निदिध्यासन होने चाहिये, क्योंकि दूसरे विषयों को सुनने से उत्पन्न हुये ज्ञान में और औपनिषदपुरुष के श्रवण से उत्पन्न हुये ज्ञान में बहुत अन्तर होता है। दूसरे विषयों का ज्ञान बुद्धि में स्थिर होता है। परन्तु इस पुरुष का ज्ञान मनन-निदिध्यासन के द्वारा बुद्धि से परे जाता है और उसके साक्षी आत्मा में स्थिर हो जाता है। यह जिसका होता है केवल उसमें ही भेदबुद्धि नष्ट होती है वही अशरीरी होता है। उसके लिये प्रिय-अप्रिय कुछ भी नहीं रहता।"

"तब भेदबुद्धि नष्ट होते ही क्या वह मर जाता है?"

मण्डन के यह पूछने पर वहाँ बैठे सभी विद्वान् जोर से हँस पड़े। मण्डन जी ने उनकी ओर घूर के देखा तो सब शान्त हो गये। परन्तु शंकर जी ने हँसते हुये उत्तर दिया,

"मरने के बाद भी स्वर्ग-नरक प्रिय-अप्रिय होते हैं, इसके लिये शास्त्र ही प्रमाण है। लेकिन शरीर के जीवित रहते हुये ही ज्ञानी को प्रिय-अप्रियरहित अशरीरत्व प्राप्त होता है।"

"तो अशरीरत्व का क्या अर्थ है?"

"स्वयं का शरीर से सम्बन्ध न होने का सुषुप्ति में अनुभव होने पर भी जागते ही शरीर-सम्बन्ध को समझना सशरीरत्व है जो कि मिथ्याज्ञान है; अर्थात् अध्यास है। समझना कि सम्बन्ध नहीं है यह सम्यग्ज्ञान ही अशरीरत्व है।"

"हम मीमांसक कहते हैं कि इस शरीर में विद्यमान जीव को ही मृत्यु के बाद परलोक प्राप्त होता है। हम अध्यास को नकारते नहीं हैं। जो जीव परलोक प्राप्त करता है वह शरीर से भिन्न ही होना चाहिये। किन्तु अध्यास मिथ्याज्ञान नहीं है गौण प्रयोग है। 'मेरा शरीर,' ऐसा कहते ही स्वयं शरीर से भिन्न है यह उसे मालूम रहता है। अतः 'मैं पुरुष हूँ, यह गौण प्रयोग है।"

"ऐसा कहना ठीक नहीं है। 'देवदत्त सिंह है, इस गौणप्रयोग में देवदत्त

का ज्ञान भी है, सिंह का ज्ञान भी है; अतः उन दोनों के बीच में अन्तर का ज्ञान भी है। किन्तु 'मैं पुरुष हूँ', यह कहते समय मैं कौन हूँ यह मालूम नहीं रहता। अतः वह गौणप्रयोग नहीं मिथ्याज्ञान ही है। परन्तु, ज्ञानी के विषय में, 'वाल्मीके पतितः सर्पनिर्मोकः इव इदं शरीरं पतितं भवति। अयम् अशरीरी, अयं ब्रह्म एव–बाँबी पर पड़ी हुयी साँप की केंचुली के समान यह शरीर पड़ा रहता है। यह अशरीरी है, यह ब्रह्म ही है, ऐसा श्रुति कहती है।"

मण्डन की ओर से फिर कोई आक्षेप नहीं आया। बहुत समय तक सभा में मौन छाया रहा। अन्त में अध्यक्षा, "वाद–प्रतिवाद समाप्त हुये। सभा समाप्त हुयी" ऐसा कहकर अन्दर चली गयी। सभा में गंभीर मौन व्याप्त हो गया। अनन्तर मण्डन जी, "यतिश्रेष्ठ! मेरे पास पूछने के लिये अब और कुछ नहीं है। कृपया थोड़ी देर बैठिये, मैं आता हूँ", ऐसा कहकर अन्दर चले गये। धर्मपत्नी के कमरे का द्वार अन्दर से बन्द था। उन्होंने धीरे से खटखटाया, द्वार नहीं खुला। वे यज्ञशाला की ओर चले गये। वहाँ मन्द अग्नि जल रही थी। वे कुछ देर खड़े रहकर उसको देखते रहे। असहनीय दुःख के कारण उनकी आँखें भर आयीं। आसूँ पोंछकर उन्होंने अग्नि की प्रदक्षिणा करके नमस्कार किया। यज्ञेश्वर के पास बैठकर वह पिछले दिनों का सिंहावलोकन करने लगे।

"हाय! मैं कर्म को ही सबकुछ समझता रहा। उपनिषद कर्म से परे और एक तत्त्व को कहते हैं यह न जानकर उसे भी मैंने कर्म की दृष्टि से ही देखा और एक संन्यासी के साथ वाद–विवाद किया! मेरा इनको एक मार्गभ्रष्ट बालक समझना भी कितना दोषपूर्ण था। बिना सही अर्थ जाने मैंने कहा कि जैमिनि जी ने ईश्वर का ही निराकरण किया है। अगर यह बालक न आता तो मैं अपने दोषों में ही आगे बढ़ता रहता। मैंने कितना पुण्य किया होगा जो अब ज्ञान का उदय हुआ है! निष्काम रूप से जो मैंने अग्नि की आराधना की है उसी ने मेरी रक्षा की है। मैंने भगवान् को छोड़ दिया था परन्तु भगवान् ने मुझे नहीं छोड़ा। उनके अनुग्रह से मुझे यह परम उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त हुआ है। यह बालक बालक नहीं है परमेश्वर ही है। मैंने उसे क्या दिया? पन्द्रह दिनों की भिक्षा। उसने मुझे किससे अनुग्रहीत किया? ज्ञान के दान से आहा!"

पुनः उनकी आँखों में पानी भर आया। पुनः उन्हें पोंछकर लौट आये और वहाँ बैठे शंकर जी को नमस्कार किया–पहली बार–सब विद्वानों के सामने! मौन बैठे विद्वान् काँप उठे। मण्डन ने किसी को नमस्कार किया हो ऐसा अभी तक किसी ने नहीं देखा था।

'भगवन्! मैं आपकी शरण में आया हूँ।"

"आपके गुरु कुमारिल भट्ट जी ने मुझे आपके पास भेजा था। उनकी और आपकी बौद्धमत से आहत हुये वैदिकधर्म की रक्षा में महान् श्रद्धा है। इस कार्य में आपको अपार अनुभव है। आने वाले दिनों में उस अनुभव का पूर्ण प्रयोग करके इस समस्या का निःशेष नाश मैं देखना चाहता हूँ। कुमारिल जी ने देह त्याग दिया है। अतः, यह कार्य मुझे और आपको मिलकर ही करना है। आओ, करें।"

इतना कहकर शंकर वहाँ से प्रस्थान करने की तैयारी करने लगे, उभय भारती जी को यह पता पड़ा तो वह मुस्कराता हुआ मुख लेकर बाहर आयी। शंकर ने पूछा, "माँ! क्या मैं जा सकता हूँ?"

"नहीं आप अभी नहीं जा सकते। बहुत दिन से चल रहे वाद में आप विजयी हुये हैं। किन्तु यह मत भूलिये कि मैं आपके प्रतिवादी की अर्धांगिनी हूँ। प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये आपको मुझे भी पराजित करना होगा।" मण्डन जी हँस पड़े। शंकर ने भी हँसते हुये कहा, "माँ! आपके वचनों को मैं अपने ऊपर अनुग्रह ही मानता हूँ।"

"वाद कब से आरंभ करें?"

"माँ! अगर आपको ठीक लगे तो कल से ही शुरू कर सकते हैं।"

"ऐसा ही हो।"

नीरव हुयी सभा में फिर उत्साह का संचार हो गया।

अगले दिन लोगों की दुगुनी भीड़ थी। गाँव की सभी स्त्रियाँ इकट्ठी हुयी थीं। मण्डन जी उपस्थित नहीं थे। मण्डन जी के आसन पर अब उनकी पत्नी बैठी थी। शंकर पहले की तरह अपने आसन पर बैठे थे।

भारती जी ने पूछा, "शुरू करें!"

हँसते हुये शंकर ने कहा, "आज मण्डन जी को अध्यक्ष बनना है न?"

"यतिश्रेष्ठ! अध्यक्ष की आवश्यकता नहीं है। अपने-अपने पक्ष के प्रतिपादन या प्रतिज्ञा की भी आवश्यकता नहीं है। यदि आप मेरे सभी प्रश्नों का उत्तर दे देंगे तो वह पर्याप्त होगा। तब आपके द्वारा हम दोनों ही जीते हुए माने जायेंगे।"

"पूछिये।"

फिर तो प्रश्नों की झड़ी लग गयी जिसका आरंभ व्याकरण से हुआ। दो-तीन दिन में व्याकरण की परीक्षा समाप्त हुयी। उसके बाद शुरू हुआ छन्दशास्त्र। फिर निरुक्त, फिर ज्योतिष। भारती जी महान् विदुषी थीं यह सब लोगों ने अभी तक केवल सुना था; उनका पाण्डित्य कभी साक्षात् देखा नहीं था। आज सबको मालूम हो गया। लोग बोलने लगे, "ये तो सरस्वती की अवतार हैं।"

बहुत दिन बीतने पर भी उनके प्रश्न समाप्त नहीं हुये। "अरे! यह तो सर्वज्ञ लगता है! खैर! कोई बात नहीं।" फिर उन्होंने अलंकारशास्त्र पर प्रश्न आरंभ किये। उसमें भी नवरसों पर! शाम होते-होते देवी का आग्रह भी अधिक होता गया। अन्त में उन्होंने कामशास्त्र के विषय में प्रश्न पूछा। शंकर कान बन्द करके दीन स्वर में बोले, "माँ! यह स्मरण रखिये कि मैं एक संन्यासी हूँ। मेरा उस शास्त्र से परिचय नहीं है।"

"आप वाद को स्वीकार करके बैठे हैं। पहले ऐसी कोई शर्त नहीं रखी गयी थी। अगर आप उत्तर नहीं दे सकते तो मण्डन जी द्वारा दी गयी प्रतिज्ञा भी मान्य नहीं रहेगी। आप जा सकते हैं" इतना कहकर, बिना और एक भी शब्द बोले, वह मुँह ढेढ़ा करके अन्दर चली गयी।

सभा में बैठे सब अवाक् रह गये। एक ने कहा, "कुछ भी कहो, माताजी का यह प्रश्न पूछना ठीक नहीं था।" दूसरे ने कहा, "माताजी की चतुराई तो देखो!"। किसी और ने कहा, "स्त्री का यदि आग्रह हो जाये तो वह उसके लिये क्या नहीं कर सकती"। "छी! छी!" ऐसा बहुतों ने कहा। शंकर पिंजरे में बन्द बाघ के समान इधर-उधर घूम रहे थे। पद्मपाद विमूढ़ होकर बाहर जाकर बैठ गये। पृथ्वीधर यह सोचते हुये कि आगे वे क्या करेंगे

शंकर की ओर एकटकी लगाकर देखने लगे। कुछ समय ऐसे ही बीत गया। अन्त में शंकर ने कहा, "पृथ्वीधर जी! माताजी को बुला लाइये।"

अन्दर जाकर समाचार दिया गया तो उभय भारती जी बाहर आयीं। शंकर ने कहा, "माताजी! मुझे एक महीने का समय दीजिये। आपके प्रश्न का उत्तर दे दूँगा।"

"ऐसा ही हो।"

"पृथ्वीधर, पद्मपाद, आओ चलें", और शंकर उनके साथ चल पड़े।

मण्डन को, जो कि भीतर थे, धीरे-धीरे अपने शिष्यों द्वारा सारा वृत्तान्त ज्ञात हुआ। वे बोले,

"भारती! यह तुमने क्या किया?"

"वह बालक आपको मेरे से छीन कर ले जा रहा था। मैं क्या चुपचाप बैठी देखती रहती? एक मास का समय माँग कर गया है। देखते हैं आने पर क्या होगा।"

× × ×

दोनों शिष्यों के साथ शंकर जी चले जा रहे थे। वे अनुमान नहीं लगा पा रहे थे कि गुरु जी आगे क्या करेंगे। उनको आभास ही नहीं रहा कि उनके शरीर में चेतनता भी है या नहीं। वे आपस में कोई बातचीत नहीं कर रहे थे। मार्ग में आये किसी मन्दिर या वृक्ष के नीचे कुछ देर बैठने और फिर आगे बढ़ने के अलावा और कोई व्यवहार नहीं करते थे। उन्हें नहीं पता था कि वे कहाँ जा रहे हैं। दो-तीन दिन ऐसे ही बीत गये। एक दिन वे एक पर्वत की घाटी में से होकर गुजर रहे थे कि एकाएक शंकर जी रुके और बोले, "पद्मपाद, वह क्या आवाज है? सुनो" दोनों शिष्य सावधान होकर सुनने लगे।

"हाँ, हाँ। कोई रोने की आवाज है। लगता है कई लोग हैं।"

"मैं यहीं बैठता हूँ। देखकर आओ।"

"पद्मपाद जी आप देखकर आइये। मैं गुरुजी के पास, रुकता हूँ", पृथ्वीधर ने कहा।

पद्मपाद गये और लौटकर आकर बोले, "अमरूक नाम का राजा परिवारसहित शिकार के लिये आया था। शिकार के बाद लौटते समय उनके सिर में चक्कर आया और वह गिर पड़े। जाँच करने पर मालूम हुआ कि वह मर चुके हैं। परिवार में 25–30 लोग हैं, सभी रो रहे हैं।"

"राजा की आयु कितनी होगी?", शंकर जी ने पूछा।

"लगभग पैंतालीस साल।"

"उसे मरे हुये कितना समय हो गया?"

"लगभग एक घण्टा हुआ होगा।"

कुछ पल के लिये शंकर गहरी सोच में पड़ गये। पर्वतप्रदेश की ओर देखते हुये उन्होंने कहा, "देखकर आओ ऊपर कोई एकान्त स्थल है क्या जिसके पास पानी की सुविधा भी हो। जल्दी देखकर आओ।"

वे देखकर आये और बोले,

"एक उपयुक्त गुफा है जिसके पास झरना भी बह रहा है। वह रहने लायक है।"

तुरन्त पर्वत चढ़कर तीनों वहाँ पहुँचे। शंकर ने स्थल का परीक्षण किया और गंभीर स्वय में पूछा,

"मैं आप दोनों पर एक महान् दायित्व डालना चाहता हूँ; क्या आपको स्वीकार है?"

"गुरु जी! आप जैसा कहेंगे हम वैसा ही करेंगे।"

"मैं अब उस राजा के शरीर में प्रवेश करूँगा। कुछ दिन बाद वापिस आऊँगा। तब तक इस देह की रक्षा करना आप दोनों की जिम्मेवारी है। ठीक है?"

दोनों शिष्य मूक बने खड़े रहे। पद्मपाद ने केवल "ओह!" कहा।

"ओह से क्या मतलब है? क्या आप पूछना चाहते हैं कि यह हो सकता है या नहीं?"

"हो सकता है मैं जानता हूँ। मत्स्येन्द्रनाथ ने यह किया था।"

"फिर क्या?"

"नये शरीर में व्यामोह हो जाने से वे उसी में बने रहे। उनको वापिस लाने के लिये उनके शिष्य गोरखनाथ जी को बहुत श्रम करना पड़ा।"

"यदि ऐसा हुआ तो मुझे वापिस लाने के लिये आप लोग तो हैं न?"

"गुरु जी क्षमा करें। उस समय तक यहाँ आपके शरीर पर कोई विपत्ति आ गयी तो?"

"वह आप दोनों की जिम्मेवारी नहीं है। उसका ध्यान मैं ही रखूँगा।"

"गुरु जी! मेरे प्रश्न की घृष्टता को क्षमा कीजिये। क्या संन्यासी के लिये परकाया में प्रवेश करना पाप नहीं है?"

"वहाँ संसार करने वाला गृहस्थ है या संन्यासी?"

"गृहस्थ होने पर भी उसका मन तो संन्यासी का ही है न?"

"स्वप्नकाल में शरीर से अलग होने पर क्या जीव को पाप-पुण्य होता है? तुम्हें बृहदारण्यक का मन्त्र याद है या नहीं?"

"इतना जोखिम किसलिये उठाना?"

"मण्डन को पाने के लिये।"

"वह नहीं मिलेंगे तो क्या होगा?"

"वह आपके मतलब की बात नहीं है।"

कुछ देर मौन रहा। फिर शंकर बोले, "और कोई प्रश्न बाकी है क्या?"

"नही"

"क्या तुम यह दायित्व उठाने के लिये तैयार हो?"

"तैयार हूँ। मैं भूल गया था कि आप कौन हैं तभी मैने बिना सोचे-समझे यह सब कहा। उद्वेग में मैंने जो कुछ कहा कृपया उसे क्षमा कीजिये और पहले की तरह अपना अनुग्रह बनाये रखिये।" ऐसा कहकर उन्होंने शंकर जी को दीर्घ दण्डवत् प्रमाण किया।

पद्मपाद ने गुफा में शंकर जी का कम्बल बिछाकर, उसके ऊपर उनका ऊपरी वस्त्र फैला दिया। लेकिन पद्मपाद ने जैसा सोचा था शंकर जी उसपर लेटे नहीं बल्कि पद्मासन में बैठ गये। प्राणायाम करके उन्होंने सूक्ष्मशरीर के एक अंश को देह में ही छोड़ दिया और अन्य अंशों के साथ ब्रह्मरन्ध्र द्वारा

निकलकर वह राजा की देह में उसके ब्रह्मरन्ध्र द्वारा प्रविष्ट हो गये। राजा में प्राण का संचार हो आया। आँखें खुल गयीं। राजा का परिवार खुशी से चिल्ला पड़ा। राजा ने कहा,

"सिर में चक्कर आने से मैं गिर पड़ा था। मुझे कुछ नहीं हुआ है। चलो चलें।" परिवार के सदस्यों के आश्चर्य की सीमा नहीं रही। सब राजा के साथ राजमहल लौट आये।

राजा अब राज्य का कार्य असाधारण कुशलता के साथ निभाने लगे। समस्याओं के उठने पर राजा के समाधान उनके मन्त्री परिषद से अधिक श्रेष्ठतर होते थे। वे तीनों पत्नियों में समान प्रेम रखते थे। जल्दी-जल्दी में ज्येष्ठ पुत्र का राज्याभिषेक भी कर दिया गया। यह सब देखकर छोटी रानी कनकमंजरी और मुख्यमन्त्री को संतोष की अपेक्षा आश्चर्य अधिक हुआ। कुछ दिन में आश्चर्य के स्थान पर सन्देह होने लगा। 'मरा हुआ फिर जीवित हो सकता है क्या?" उन्होंने आपस में गुप्त मन्त्रणा शुरू करी। अन्त में उन्होंने निर्णय लिया, 'चाहे कुछ भी हो इस राजा की रक्षा अवश्य करनी चाहिये। गुप्तचरों को सन्देश भेजे गये। तीन-चार दिनों में उनसे सूचनाएँ-प्राप्त हुयीं। उनके आधार पर गुप्तचरों को आवश्यक कार्यवाही करने का आदेश दे दिया गया। गुप्तचर उसे कार्यान्वित करने की दिशा में जुट गये।

इस बीच पहाड़ की गुफा में पद्मपाद और पृथ्वीधर शंकर जी के शरीर पर पहरा दे रहे थे। दोपहर में जब एक शिष्य भिक्षा के लिये जाता तो दूसरा शरीर का ध्यान रखता था। गाँव वहाँ से दूर था। भिक्षा लाना ही उनका मुख्य कार्य था। भिक्षा लाने के बाद दोनों का भोजन प्रतिदिन दोपहर को प्रायः तीन बजे होता था।

इस गुफा की एक ओर झाड़ी के पीछे धीमे स्वर में यह बातचीत चल रही थी,

"क्या करें, दोनों में से एक न एक तो हमेशा रहता ही है?"

"आज पहलवान रुका हुआ है। भिक्षा लाने पतला वाला गया है।"

"एक सप्ताह से प्रतीक्षा कर रहे हैं परन्तु कोई मौका ही नहीं मिल रहा है।"

"मौका मिलने पर भी हम क्या कर सकते हैं? गुरु जी ध्यान में बैठे हैं। उनको देखकर मैं काँप उठता हूँ।"

"बहुत दिन से बैठे हैं। शायद समाधि में हैं। शरीर अचेतन है। हम अपना काम पूरा करके भाग जायेंगे।"

उस दिन भिक्षा लाने की बारी पृथ्वीधर की थी। वे अभी तक लौटे नहीं थे। प्रतीक्षा करते–करते पद्मपाद थक गये और गुफा से बाहर आ गये। वे 25–30 कदम नीचे उतरे और और एक मोड़ पर पृथ्वीधर की प्रतीक्षा में आकर खड़े हो गये। कुछ समय बाद वह वहीं एक चट्टान पर बैठ गये।

"पहलवान उतरकर नीचे चला गया है। आओ यही सही मौका है। कार्य को जल्दी पूरा करना चाहिये।"

एक के हाथ में अग्नियुक्त मटकी थी और दूसरे के हाथ में एक थैली जिसमें तेल में भीगा कपड़ा था। दोनों ने चुपचाप गुफा में प्रवेश किया। उन्होंने तेल से भीगा कपड़ा शंकर के शरीर को उढ़ा दिया। फिर फूंक मार कर अग्नि को हवा दी। एक छोटी ज्वाला आने पर उस पर कर्पूर का एक बड़ा टुकड़ा डाल दिया। क्षणमात्र में ही धधकती हुयी ज्वालाएँ उठने लगीं। कपड़े को आग लगाकर दोनों भाग गये।

उधर शिला पर बैठे पद्मपाद गहरी चिन्ता में थे। समयावधि पूरी होने में केवल पाँच दिन बाकी थे और गुरु जी अभी तक वापिस नहीं आये थे। अवधि समाप्त होने के बाद कोई लाभ नहीं। अगर मण्डन जी की पत्नी ने "अवधि समाप्त हो गयी है, चले जाओ", ऐसा कह दिया तो गुरु जी क्या करेंगे? गुरु जी एक साहस करने गये और किस आपत्ति में फंस गये यह कौन कह सकता है? पता नहीं हम उन्हें दुबारा देखेंगे भी या नहीं। कितने दिन तक शरीर की रक्षा की जा सकती है? ऐसा सोचते हुये उन्होंने दूर से पृथ्वीधर को आते हुये देखा। पास आते ही पृथ्वीधर बोले, "यह जलने की गन्ध कैसी है?"

"हाँ। हाँ। पता नहीं किस चीज की है।"

"गुफा छोड़े हुये आपको कितना समय हो गया है?"

"लगभग दस मिनट।"

"जल्दी चलो। चलो जल्दी।"

दोनों गुफा की ओर भागे। वहाँ का दृश्य देखकर वे काँप उठे। मन्त्री के गुप्तचर उसी समय गुरु जी के शरीर को जलाकर गये थे। दोनों झरने की ओर दौड़े। लायी हुयी भिक्षा को झरने में डालकर भिक्षापात्र में और दोनों कमण्डलों में आग बुझाने के लिये जल भरकर ले गये। वहाँ उन्होंने क्या देखा? अरे! कौपीनधारी शंकर वहाँ हँसते हुये खड़े थे। पृथ्वीधर और पद्मपाद अवाक् रह गये। बहुत समय तक वे गुरु जी को आँखें फाड़कर देखते रहे। बाद में शरीर का परीक्षण करने पर उन्होंने पाया कि हाथों की और पैरों की उँगलियाँ कुछ जल गयी थी। पहने हुये वस्त्र पूरी तरह जल गये थे। पद्मपाद ने उनके पैरों पर गिरकर कहा, "गुरु जी! जो जिम्मेवारी आपने मुझे सौंपी थी वह मैं ठीक प्रकार से निभा नहीं पाया। मुझे क्षमा करें।"

"प्रिय पद्मपाद! भगवान् लक्ष्मीनरसिंहस्वामी ने हम दोनों की रक्षा की है। अब क्या चिन्ता करनी? आओ फिर मण्डन जी के घर चलें", इतना कहकर शंकर ने गुफा में जाकर गठरी में से कुछ वस्त्र छाँटे और झरने में स्नान करके अपने वस्त्र बदले और माहिष्मती की ओर चल पड़े।

शंकर जी के परकायाप्रवेश का समाचार बिजली की तरह माहिष्मती में फैल गया था। अमरुक के राज्य से निकला शंकरपरिवार अवधि के अन्तिम दिन मण्डन जी के घर पहुँचा। रास्ते में चलना भी कठिन था क्योंकि मार्ग में भारी संख्या में लोग एकत्रित थे। मण्डन जी और उभय भारती देवी दोनों उनका स्वागत करने के लिये आगे आये। पहले उभय भारती जी ने नमस्कार करके कहा,

"यतिश्रेष्ठ! गृहस्थों के स्वाभाविक दोष के कारण मैंने आपके साथ वाद में सीमा का उल्लंघन किया। मैं पहचान नहीं पायी की आप कौन हैं, तभी यह दोष हुआ। अब मैं जान गयी हूँ कि आप धर्म के उद्धार के लिये अवतीर्ण हुये परमेश्वर ही हैं। मुझे क्षमा करें।"

तत्पश्चात् मण्डन, ने 'न कर्मणा....' इस मन्त्र का पाठ करके शंकर जी को साष्टाँग नमस्कार किया और बोले, "मैं आपके साथ आने के लिये तैयार हूँ। मैं आपका दास हूँ।"

शंकर ने भारती जी से कहा, “माँ! महात्मा भी कभी–कभी विशेष सन्दर्भों में अपने स्वभाव के विरुद्ध व्यवहार करते हैं। वह विधाता के विधान के अनुसार ही होता है। उस पर उनका नियन्त्रण नहीं होता। इसलिये उसे दोष मानना गलत है। मैं आपमें कोई भी दोष नहीं देखता। आप मेरी पूज्या हैं। आप भी हमारे साथ आइये, हमारे साथ ही रहिये। मण्डन जी के संन्यास में अभी समय है। अगले दिन मण्डन जी ने अपनी संपत्ति अपने बच्चों में बाँट दी। अपने लिये उन्होंने जो कुछ रखा हुआ था वह उन्होंने विधिपूर्वक दान कर दिया। बच्चों ने उन्हें नमस्कार किया और मण्डन जी ने उन्हें आशीर्वाद दिया। बाद में सादे वस्त्र पहनकर वह प्रस्थान के लिये तैयार हो गये। उभय भारती जी ने भी सादे वस्त्र धारण करके अपने पति का अनुसरण किया। सारी माहिष्मती ने दुःख, आश्चर्य और भक्ति के साथ उनको विदा किया। विस्तृत शंकरपरिवार दक्षिण दिशा में स्थित श्रीशैल के लिये रवाना हुआ।

• • •

अध्याय नौ

माहिष्मती से श्रीशैल से तिरुपति

श्रीशैल गहरे वन, झरनों और गुफाओं से युक्त पर्वतप्रदेश है। वहाँ सत्त्व, रज और तमोगुण तीनों एक ही समय में रहते देखे जा सकते हैं। वह साधुओं का निवासस्थान है; साथ-साथ कापालिक भी वहाँ रहते हैं। वहाँ पर हिंसक जानवर भी वास करते हैं। इन सबका समन्वय करके श्रीशैल पर्वत कूटस्थ रूप से स्थित है।

शंकरपरिवार यहाँ साधुओं और कापालिकों से आकर्षित होकर आया था। योग्य स्थान ढूंढकर वे वहाँ रहने लगे। भिक्षा कभी-कभी छोटे-मोटे आश्रमों से मिल जाती थी या कभी-कभी तीर्थयात्रियों द्वारा दिये गये सूखे आटे और अनाज से भारती जी खाना बना देती थीं। पहले के समान प्रातःकाल और दोपहर में साधु सन्तों के साथ समागम होने लगा। बहुत बार तीर्थयात्री भी उनमें भाग लेते थे। उन सबके लिये शंकर के प्रवचन अमृत के समान थे। एक दिन तो शंकर जी के आत्मस्वरूपविवेचन से संन्यासी आँख मूँदकर आत्मस्वरूप में ही स्थित हो गये। वहाँ आये यात्री तो श्रवणमात्र से आनन्द प्राप्त करने पर भी पूरी तरह विषय समझ न पाने के कारण असन्तुष्टि के अनुभव करते थे। उनमें से एक ने पूछा,

"गुरु जी! हम अज्ञानी हैं। इतना तो हम समझ रहे हैं कि आप जो कह रहे हैं वह अत्यन्त सुन्दर है। वह आत्मस्वरूप क्या हम जैसे लोग भी प्राप्त कर सकते हैं? कर सकते हैं तो उसका साधन क्या है कृपया हमें समझाइये।"

"बताता हूँ, सुनिये। प्राप्ति अवश्य हो सकती है। उसकी प्राप्ति का एक ही मार्ग है; वह है भगवान् की भक्ति। वह क्या होती है देखो। साधारणतया मनुष्य दुःख से बाहर आने के लिये अपने ही सामर्थ्य का सहारा लेता है; उसमें विफल होने पर भगवान् की शरण में जाता है। यह भक्ति की शुरुआत है। यह आर्त भक्त है। यह भक्ति, दुःख का हेतु जो पाप है, उसे नष्ट करती है। इस प्रकार दुःख के नाश से उत्साहित हो वह और विषयसुखों के लिये

भगवान् का भजन करता है। वह अब अर्थार्थी भक्त है। इस भक्ति से उसे अभिलाषा से भी अधिक विषयसुख प्राप्त होते हैं; क्योंकि उस भक्ति से पुण्य का सम्पादन होता है। भक्ति के द्वारा सभी अभिलषित विषयों को प्राप्त करने के बाद वह भगवान् को भूलकर पाप करता है और फिर से दुःख प्राप्त करने पर दुबारा आर्त्त भक्त बन जाता है। इस प्रकार आर्तभक्ति और अर्थार्थी भक्ति, इनमें ही लगा रहकर, सुख–दुःख में डूबा हुआ जन्म बिताता रहता है। परन्तु कभी बिना अभिलाषा के भगवान् की पूजा करी होने के कारण उसमें एक परिवर्तन आता है। सुख–दुःख, लाभ–हानि इत्यादि द्वन्द्वों से परेशान होकर उसे "यह भगवान् कौन हो सकता है?, मैंने उसको देखा नहीं है, फिर भी उसको भूलने से दुःख और स्मरण करने से दुःख का नाश होता है। कुछ क्षण के लिये सुखःदुःख को भूल जाता हूँ, यह कौन है?", इस प्रकार भगवान के विषय में जिज्ञासा होती है। अब वह जिज्ञासु भक्त है। यह जिज्ञासा इस बात का लक्षण है कि भगवान् ने उसके हृदय में प्रवेश कर लिया है। उसकी कृपा से ही जो भगवान् अब तक दूर थे, पास आ जाते हैं। जिज्ञासु तब भक्ति से भगवान् का चिन्तन करता है तब अन्दर रहकर भगवान् ही उसे गुरु के दर्शन कराते हैं। गुरु के हृदय में भी वही भगवान् रहता है। लेकिन उसकी विशेषता यह है कि वह भगवान् के दर्शन कर चुका है। इसलिये भगवान् जैसा है, गुरु उसे वैसा ही दिखाता है। वह वाणी से समझाता है कि "सभी आभूषणों में सोना होता है, उसी प्रकार, सबके हृदय में रहने वाला भगवान् ही मुझमें है"। जिज्ञासु की बुद्धि जो अभी तक बहिर्मुखी थी, वह अब अन्तर्मुखी होकर भगवान् का दर्शन करती है। अब वह ज्ञानी भक्त हो जाता है। इस प्रकार अन्तर्मुख रूप से रहते हुये उसे कई जन्मों के बाद आत्मदर्शन होता है। इसलिये हमें कभी भगवान् को भूलने का दौर्भाग्य नहीं होना चाहिये।"

उसी दिन समागम में कुछ कापालिक भी बैठे थे। उनमें से एक ने उठकर पूछा: "महास्वामी! जिस गुरु ने भगवान् के दर्शन कर लिये हैं उसके लक्षण क्या हैं?"

"भगवान् अत्यन्त शान्तस्वरूप हैं। अतः, जिसने उनके दर्शन कर लिये हैं वह भी शान्त हो जाता है। उसका व्यवहार मृदु होता है। वह किसी

को भी उद्विग्न नहीं करता। जो लोग दुःखी होते हैं उनकी वह करुणा से सहायता करता है। वह वेदोक्त सदाचार से सम्पन्न होता है। उसमें कोई भी दुराचार नहीं होता।"

"सद्गुरु कैसे प्राप्त किया जा सकता है?"

"प्रतिदिन फूलों से भगवान् की पूजा करनी चाहिये। उनके स्तोत्रों का पाठ करना चाहिये; उनका नामजप करना चाहिये; सबके हृदय में एक ही भगवान् है यह ध्यान में रखकर सबके प्रति प्रीतिपूर्वक व्यवहार करना चाहिये। इससे सन्तुष्ट होकर भगवान् सद्गुरु दिखाते हैं।"

अगले दिन से समागम में कापालिकों की संख्या बढ़ने लगी। धीरे-धीरे उनके व्यवहार में सुधार होने लगा। विधि के रूप में वह जो मदिरा पीते थे उसे उन्होंने त्याग दिया। फलस्वरूप कापालिकों की स्त्रियों को भी शान्ति मिली। वे भी समागम में आकर बैठने लगीं। धीरे-धीरे उनके घरों में भगवान् की सात्त्विक पूजा आरंभ हो गयी। कापालिकों के घरों की शान्ति से उनके गुरु उग्रभैरव की शान्ति नष्ट होने लगी। ज्यों-ज्यों उसके शिष्यों की संख्या कम होती गयी, त्यों-त्यों शंकर के प्रति उसका द्वेष बढ़ता गया। प्रवचन के समय उग्रभैरव असहनीय रूप से आसपास ही मँडराता रहता था और वहाँ बैठे कापालिक उससे नज़र चुराने का प्रयत्न करते रहते। यह सब देखकर पृथ्वीधर और पद्मपाद ने आपस में सलाह की उन्हें गुरु जी के योगक्षेम के विषय में जागरूक रहना चाहिये। शंकर के परकायाप्रवेश के समय अपनी क्षणमात्र की असावधानी से जो शिक्षा मिली थी पद्मपाद, पुनः वैसा दोष न हो जाये उसके लिये सावधान थे।

शंकर जी के दैनिक कलापों का परिशीलन करके उग्रभैरव ने यह जान लिया था कि वह कब एकान्त में होते हैं। एक दिन वह स्नान करके और भस्म धारण करके आ रहा था तो उसने गुरु जी को एकान्त में बैठे देखकर साष्टाँग नमस्कार किया। शंकर ने पूछा, "आप कौन हैं?"

"मेरा नाम उग्रभैरव है। हम सब कापालिक हैं, कालभैरव के भक्त।"

"आप कहाँ के रहने वाले हैं?"

"यह जंगल ही हमारा गाँव है। स्वामी जी! आपका गाँव कौन सा है?"

"हम ऐसे ही संचार करते हैं। हमारा कोई एक गाँव नहीं है।"

"यह जगह आपको पसन्द आयी?"

"बहुत अच्छी है।"

"मैंने आपको ध्यान में बैठे देखा है। यहाँ से ऊपर इससे भी अच्छा स्थान है। आइये, मैं आपको दिखाता हूँ।"

"नही भाई। यहाँ सब कुछ ठीक है।"

"एक बार देख लेंगे तो मालूम हो जायेगा। आओ देखो।"

"नहीं भाई।"

"भोजन के लिये क्या करते हो?"

"भिक्षा।"

"यहाँ और कितने दिन रुकेंगे?"

"जब तक कार्य समाप्त नहीं हो जाता तब तक रुकूँगा।"

"कौन सा कार्य?"

"आपको ही आगे मालूम हो जायेगा।"

"क्या मतलब?"

"अब बातचीत के लिये समय नहीं है। अब आप जाइये।" यह कहकर शंकर जी ने मन्द-मन्द मुस्कराते हुये उसे एक आम देकर विदा किया। वह बिना कुछ कहे चला गया। उसने पद्मपाद को नहीं देखा, जो वहीं सूखने के लिये बिछायी गयी काषाय धोतियों के पास बैठे थे।

एक दिन दोपहर का कार्यक्रम समाप्त हो चुका था और सब आये हुये लोग वापिस चले गये थे; सर्दी होने के कारण अँधेरा जल्दी हो गया था। शंकर जी अपनी जगह पर जाकर ध्यानस्थ हो गये। पद्मपाद दीप जलाकर बाहर आ गये। लगभग आधा घण्टा बीता होगा कि उन्होंने दीप के प्रकाश में एक छाया को हिलते देखा। उन्होंने चौकन्ना होकर ध्यान से देखा। आगे एक मनुष्य था, उसके पीछे एक कुत्ता था। थोड़ा भी शब्द किये बिना चलने वाला उग्रभैरव ही था, इसमें उन्हें संशय नहीं था। वे तुरन्त उठे और धीरे से 'श' कहा। पृथ्वीधर भी झट से तैयार हो गये। शंकर जी के पास पहुँचकर

उग्रभैरव नजरें गड़ाये उनकी ओर देख रहा था। खड्ग निकालने के लिये उसने जैसे ही हाथ बढ़ाया उसी क्षण कुत्ता भौंक उठा। उग्रभैरव तुरन्त शंकर जी को साष्टाँग नमस्कार करके लौट गया। कुत्ता पृथ्वीधर और पद्मपाद को देखकर भौंकता हुआ उसके पीछे-पीछे चला गया। उस दिन से दोनों शिष्य अत्यन्त जागरुकता के साथ गुरु जी रक्षा में तत्पर रहने लगे।

एक और दिन साधुओं का समागम था। सामान्यतया यह कार्यक्रम दो घण्टे तक चलता था। उस दिन लगभग एक घण्टे तक वह कार्यक्रम निर्विघ्न रूप से चलता रहा। तत्पश्चात् उच्चध्वनि में असम्बद्ध प्रलाप करते हुये उग्रभैरव ने प्रवेश किया। वह बुरी तरह मदिरा पीये हुये था। भस्मधारण किये उसने गले में मनुष्य की अस्थियों की माला पहन रखी थी। कमर में बायीं तरफ म्यान लटक रही थी। "क्या रे! बड़ा शास्त्र का वक्ता बनता है! मेरी जगह पर आकर मुझे ही भगाना चाहता है? मैं कौन हूँ जानते हो? उग्रभैरव। देखो, मैं तुम्हारा क्या हाल करता हूँ।" इस प्रकार चिल्लाता हुआ वह क्षणार्ध में ही अपनी खड्ग निकालकर शंकर जी के सामने पहुँच गया। साधुओं की सभी में चीत्कार मच गया। परन्तु खड्ग के शंकर के गले तक पहुँचने से पहले ही पद्मपाद ने आगे बढ़कर उसका हाथ पकड़ लिया और अपना घुटना उसके पेट में दे मारा। उग्रभैरव के गिरते ही पद्मपाद ने खड्ग छीनकर उसका सिर काट दिया और उच्च स्वर में हुंकार किया। पद्मपाद के इस उग्र रूप को देखकर सब काँप उठे। उसे अपने शरीर का भी भान नहीं था। सभा में बैठी कापालिक स्त्रियाँ तुरन्त उठकर मन्दिर में गयीं और कुंकुम, भस्म आदि लाकर उनको लेप लगाया, कर्पूर से आरती उतारी और अतीव भक्ति से नमस्कार किया। कुछ समय बाद पद्मपाद का मुख शान्त हुआ। उग्रभैरव के भूतपूर्व शिष्यों ने उसके शरीर को दफना दिया और चैन की साँस ली। एक-दो दिन बाद, शंकरपरिवार ने दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किया। कापालिकों द्वारा उनको भारी मन से विदा किया गया।

आगे वे सप्तगिरि तिरुपति पहुँचे। पुष्करिणी में स्नान और प्रातः के कृत्य समाप्त करके उन्होंने वेंकटेश स्वामी के दर्शन किये। मन्दिर के व्यवस्थापक ने गुरु जी को नमस्कार करके कहा, "महास्वामी! यहाँ बहुत संख्या में यात्री आते हैं। सभी लम्बे समय तक रहकर सेवा करना चाहते हैं।

प्राय: वे सभी निर्धन होते हैं। इसलिये यात्रियों के लिये व्यवस्था करने में बहुत कष्ट हो रहा है। कृपया अनुग्रह करिये।"

शंकर ने वहाँ पर धनाकर्षण यन्त्र की स्थापना करके हमेशा के लिये यात्रियों की सुविधा का प्रबन्ध कर दिया।

आन्ध्रप्रदेश का एक सुधन्व नाम का राजा वहाँ मण्डल सेवा के लिये आया था। वह भाष्यपाठ में आकर बैठता था। वह गुरुजी की महत्ता को समझ गया। एक दिन एकान्त में आकर उसने अपना परिचय दिया और बोला,

"भगवान्! भगवद् गीता में स्वकर्मणा तमभ्यचर्य सिद्धिं विन्दति मानवः कहा गया है। यहाँ सिद्धि का क्या अर्थ है? उस सिद्धि की प्राप्ति के लिये मुझे कौन से कर्म का आचरण करना चाहिये? कृपया समझाइये।"

"सुधन्व महाराज! आपने बहुत उत्कृष्ट प्रश्न पूछा है। मैं जो कहूँगा उसे ध्यानपूर्वक सुनिये", कहकर शंकर ने उनको राजधर्म सिखाया।

"यहाँ सिद्धि का अर्थ है शाश्वत शान्ति। परमात्मा ही इसका आवास है। अत:, परमात्मा में रहना ही जीवन का ध्येय है। इस ध्येय को प्राप्त करने के लिये सबके लिये एक ही मार्ग नहीं होता, क्योंकि सबके संस्कार और सामर्थ्य एक ही समान नहीं होते। ये तो पूर्वजन्मों में किये कर्मों के फल हैं। इनके अनुसार भगवान् हरेक को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चारों में से किसी एक वर्ण में जन्म देता है। जन्म देकर उस-उस वर्ण के लिये जो-जो कर्म विहित हैं उनको भी बताते हैं। कर्म ही धर्म है। जब सब अपने-अपने वर्णधर्म का अनुसरण करते हैं तभी सबको शान्ति मिलती है। इसका अर्थ यह है कि वर्णों के आपसी सहयोग से ही शान्ति मिल सकती है।"

"वर्णधर्म की और वर्णों की एकता की रक्षा करना राजा का धर्म है। वैयक्तिक रूप से करने वाले श्रुत्युक्त नित्य-नैमित्तिक कर्म तो उसको करने ही होते हैं; परन्तु एक राजा को, प्रजा की अपेक्षा असाधारण स्थितियों का भी सामना करना पड़ता है इसलिये उसके बहुत विशेष धर्म भी बताये गये हैं। ऐसे प्रसंग हमारी पुण्यभूमि में बहुत स्थानों पर उठ खड़े हो चुके हैं। गान्धार और सिन्धुदेश पर म्लेच्छों के आक्रमण हो रहे हैं। ये केवल धन के

लोभ से किये गये आक्रमण नहीं हैं; लोगों पर भी आक्रमण हैं। किसलिये? उनका कहना है कि म्लेच्छ धर्म ही श्रेष्ठ धर्म है और दुनिया के सभी लोगों को उसी का अनुसरण करना चाहिए। अपने धर्म को फैलाने के लिये वे भोले–भाले लोगों को मार डालते हैं; हमारी स्त्रियों को उठा ले जाकर उनका धर्मपरिवर्तन कर देते हैं। इन आततायियों को इस दुष्कर्म में अहिंसा का गीत गाने वाले बौद्धों की सहायता मिल रही है। वेदों के प्रति जो उनका द्वेष है वह इन दोनों को पास लाया है। इससे पता पड़ता है कि वेद से द्वेष, स्वजनों से द्वेष और स्वदेश से द्वेष तक ले जाता है। इस प्रकार की विषम परिस्थितियों का सामना करना सामान्य लोगों के बस की बात नहीं है; केवल राजा लोग ही कर सकते हैं। कई राजनीतिक कारणों से बौद्धों की समस्या इस समय काफी हद तक शान्त हो चुकी है, परन्तु उनके द्रोह से स्फूर्ति पाकर म्लेच्छों के आक्रमण बढ़ते जा रहे हैं।"

"राज्य के लोभ से हमारे अपने राजाओं के बीच में जो युद्ध लड़े जाते हैं उनमें जो रीति अपनाई जाती है और म्लेच्छों से युद्ध करते हुये जो नीति अपनाई जाती है, दोनों भिन्न होती हैं। ऐसे कई प्रसंग हैं जहाँ पर पराजित म्लेच्छ राजा ने मित्र होने का नाटक करके धोखे से विजयी राजा को मार डाला और उसके राज्य को अपने अधीन कर लिया। इतनी आसानी से धोखा खाना एक समर्थ राजा का लक्षण नहीं है। हमारे दो राजाओं के बीच स्पर्धा का म्लेच्छों के साथ मित्रता का कारण बनना धर्म नहीं है। ऐसी परिस्थितियों में पालनयोग्य नीति यह है 'वयं पंचाधिक शतम्'। अपने आप में पाण्डव 5 हैं और कौरव 100। तीसरे के सामने वे दोनों मिलकर 105 हैं।"

"म्लेच्छराज पराजित होकर भाग तो जाता है परन्तु वह फिर आक्रमण कर सकता है। आम तौर पर हमारे राजा हर बार उसे केवल हमारी सीमा से बाहर ही भगाते हैं। यह अपर्याप्त है। उसके राज्य में प्रवेश करके उसके बल का मूल से नाश कर देना चाहिये। नहीं तो राजकोष खाली होता रहेगा और हमारे सैनिक मरते रहेंगे। सिन्धुदेश के राजाओं ने वेतन देकर (भाड़े पर) कुछ म्लेच्छ सैनिकों को अपनी सेना में रखा था। म्लेच्छों के साथ युद्ध करते समय वे सैनिक शत्रुपक्ष में चले गये और हमारे राजाओं की मृत्यु का कारण बने। अत: राज्य के संवेदनशील पदों पर बाहर वालों को नियुक्त करना

उचित नहीं है। और जो देशद्रोह करते हैं उन्हें सख्त से सख्त सजा न देना भी खतरनाक है। 'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत, ग्रामं जन्पदस्यार्थे त्यजेत्' – ये सब आज की परिस्थिति में राजाओं के विशेष धर्म हैं। आपको शम–दम से सम्पन्न धर्मनिष्ठ ब्राह्मणों से समय–समय पर मन्त्रणा करके धर्म की रक्षा करनी चाहिये। यही है राजा को सिद्धि देने वाला स्वकर्म नामक भगवान् का अर्चन।"

दो–तीन दिन के बाद शंकर जी कर्नाटक जाने की तैयारी करने लगे। वहाँ सेवा के लिये विदर्भ का राजा आया हुआ था। उसने उन्हें कहा कि वहाँ जाना ठीक नहीं है। शंकर जी के कारण पूछने पर उसने कहा,

"वहाँ कापालिकों का उपद्रव बहुत है।"

"तब तो वहाँ अवश्य ही जाना चाहिये", शंकर ने कहा। विदर्भराज को उनके व्यक्तित्व की गहराई का अन्दाज़ा नहीं था। सुधन्व नरेश ने तुरन्त कहा, "भगवन्! आप कर्नाटक के लिये रवाना हो जाइये, मैं सेना लेकर आपके साथ चलूँगा।"

सुधन्व के यह वचन सुनकर विदर्भराज को अपने वचनों पर लज्जा महसूस हुयी। वह चुपचाप वहाँ से चला गया।

• • •

अध्याय दस

तिरुपति से कालड़ी

कर्नाटक की ओर यात्रा आरंभ हुयी। आगे सुधन्व की सेना थी, पीछे शंकरपरिवार। कर्नाटक में क्रकच नामक व्यक्ति कापालिकों का नेता था। वह शराबी, क्रूर और दुष्ट था। उसके पास खड्गधारी कापालिकों की एक छोटी सी सेना भी थी। उससे डरकर लोगों ने पूजा आदि अपने घरों तक ही सीमित कर रखी थी। सत्संग और उत्सव बन्द हो चुके थे। शंकर की महानता के विषय में सुनकर वे लोग उनके दर्शन के लिये लालायित थे। फिर भी खुले में आने से डरते थे। सुधन्व की सेना की रक्षा है यह जानकर वे हिम्मत करके आगे आये और मन्दिरों में सत्संग की व्यवस्था की। भारी संख्या में लोग आने लगे। उनमें उत्साह की लहर दौड़ रही थी। इससे क्रोधित हो क्रकच अपनी सेना के साथ आया और सभा में विघ्न डालने का प्रयत्न करने लगा। सुधन्व के सेनापति ने कापालिक सैनिकों को सम्बोधित करके कहा,

"आपमें से जिनको जीवित रहने की इच्छा हो वे अपने–अपने शस्त्रों को यहीं डालकर अपने घर जा सकते हैं; या मन्दिर में हो रहे उत्सव में सम्मिलित होकर, आये हुये महागुरु का आशीर्वाद और प्रसाद लेकर फिर जा सकते हैं। जिनको जीवित रहने की अभिलाषा नहीं है केवल वे ही युद्ध की तैयारी करें। आपको मौत के घाट उतारने के लिये मैं तैयार हूँ।"

कापालिकों की सेना में भ्रम उत्पन्न हो गया। कुछ समर्पण करना चाहते थे और कुछ युद्ध। अन्त में समर्पण करने वाले ही अधिक थे। अंगारे के समान जलता हुआ क्रकच बचे हुये सैनिकों के साथ हुंकार भरता हुआ आगे बढ़ा। तुरन्त सेनापति ने एक ही बाण से उसका सिर घड़ से अलग कर दिया। शेष बचे सैनिकों ने अपने हथियार डालकर आत्मसमर्पण कर दिया। इस प्रकार कर्नाटक में कापालिकों की समस्या पूरी तरह हल हो गयी। शंकर ने सुधन्व राजा को आशीर्वाद देकर वापिस भेज दिया।

शंकर जी ने वहाँ से दक्षिण की ओर रवाना होते समय मण्डन जी, उनकी पत्नी और पद्मपाद जी को शृङ्गेरी भेज दिया और कहा कि वह उन्हें एक महीने बाद वहीं मिलेंगे। पृथ्वीधर जी के साथ वह केरल की ओर रवाना हुये। केरल की सीमा आने पर उन्होंने कहा,

"पृथ्वीधर! मेरी माता अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रही हैं। जब मैं उनको छोड़कर जा रहा था तो मैंने प्रतिज्ञा की थी कि उनके अन्तिम समय में मैं उनके साथ रहूँगा। अतः मैं कालड़ी जाऊँगा। एक महीने में शृङ्गेरी पहुँचूँगा। मुझे लगता है कि आपका केरल में संचार करना आवश्यक है। यहाँ की परिस्थितियाँ मालूम करके आप भी उस समय तक शृङ्गेरी पहुँच जाइये। आगे जो-जो कार्य करने हैं वहीं निश्चय करेंगे।"

फुर्ती से चलते हुये शंकर जी कालड़ी पहुँचे। मार्ग में जो नये स्थान पड़े वहाँ भारी भीड़ ने उनका स्वागत किया। परन्तु जहाँ उनका जन्म हुआ था उस गाँव में वह अकेले ही चलते हुये घर पहुँचे। उनके बचपन के शिष्य नारायण नम्बूदिरि और विश्वनाथ नम्बूदिरि को छोड़कर घर में माँ के साथ और कोई नहीं था। जो घर हमेशा बन्धुओं और मित्रों से भरा रहता था आज सूना था। शंकर तुरन्त खाट पर सोयी माँ के पास गये और पैर छूकर नमस्कार करके बोले, "माँ! मैं शंकर, आ गया हूँ। माँ ने धीरे से अपनी आँखें खोलीं, दोनों हाथ फैलाकर शंकर का आलिंगन किया और बोली, "शंकर! आ गये? मैं जानती थी कि तुम जरूर आओगे। तुम अच्छे तो हो न?"

"बिल्कुल ठीक हूँ माँ! आप कैसी हो?"

"आखिरी दिनों में जैसी होनी चाहिये वैसी हूँ। तुम्हें भिक्षा में कष्ट तो नहीं होता न? ठीक से मिल रही है न?"

"मिल रही है माँ। कोई कमी नहीं है।"

"अपने स्वास्थ्य का सही प्रकार से ध्यान रखो।"

"हाँ माँ।"

"पहले स्नान करके भोजन करो। नारायण! खाना तैयार है तो शंकर के लिये परोस दो।"

शंकर ने पूछा, "नारायण! माँ क्या खाती हैं?"

"परसों खाना खाया था। कल केवल चावल का पानी पिया था।"

"माँ आज आप क्या खाओगी?"

"मैं थोड़ा सा भोजन करूँगी।"

"गुरु जी! आपके आने से माँ में बल आ गया है। खाने की इच्छा कर रही हैं", नारायण ने हँसते हुये कहा।

धोने के लिये जो माँ के कपड़े रखे थे वे शंकर ने स्वयं धोकर सुखा दिये। फिर स्नान किया। नारायण से पूछकर, जैसा उसने बताया, वैसे अन्न को लेकर माँ के पास गये। उनको बिस्तर से उठाकर बिठाया और खाना खिलाया। बाद में उनके बैठे–बैठे ही पलंग को साफ करके बिस्तर बिछाकर माँ को सुला दिया। बाद में स्वयं भोजन किया।

शंकर ने शिष्यों से पूछा, "महापण्डित जी और हमारे गुरु नारायण दीक्षित जी कुशल हैं न?"

"दोनों का स्वर्गवास हो गया है। नारायण दीक्षित जी की पत्नी है। पुत्र गुरुकुल चला रहा है। बहू, पोते सब हैं।"

"फिर तो एक बार जाकर उनसे मिलना चाहिये"

"चलो। मैं भी चलूँगा।"

खाना बनाना छोड़कर माँ की सब सेवा शंकर स्वयं ही करते थे। दो दिन बाद माँ की शारीरिक स्थिति और क्षीण हो गयी। आँखें बन्द किये आर्याम्बा ने आवाज लगायी, "शंकर ....ऽऽ"।

"माँ! मैं तो आपके पास ही हूँ", कहकर शंकर ने माँ के हाथ पकड़ लिये। उन्होंने धीरे से आँखें खोलकर कहा, "तुम्हारे बारे में लोगों से बहुत कुछ सुना है। मैं बहुत खुश हूँ। मैं धन्य हुयी। अपनी प्रतिज्ञानुसार तुम्हारे मेरे आखिरी दिनों में आने से मुझे बहुत शान्ति मिली है। मेरे अन्तिम समय में मुझे जो समझना चाहिये वह मुझे सिखाओ और सद्गति दिलाओ।"

"माँ! अन्तिम समय शरीर का है; आपका नहीं। सद्गति प्राप्त करने के लिये आप रहती ही हैं।"

"सद्गति का क्या मतलब है?"

"सद्गति का अर्थ है कृष्ण में ही रहना उसी में एक हो जाना। आप प्रतिदिन भगवान् श्रीकृष्ण से ही उठकर आती हो और फिर श्रीकृष्ण में ही जाती हो। अब हमेशा के लिये श्रीकृष्ण में ही रहने जा रही हो, इतना ही है।"

"प्रतिदिन उनसे ही उठकर फिर उनमें ही जाती हूँ, इसका क्या अर्थ है?"

"प्रतिदिन गहरी नींद से उठकर आकर फिर गहरी नींद में ही जाती हो न! वही मैंने कहा है। क्या तुम्हें पता है कि गहरी नींद में तुम कहाँ होती हो? कृष्ण में ही होती हो। इसलिये, सब दुःखों से रहित सुख में होती हो। सुख होता है केवल कृष्ण में। बाहर नहीं होता। मैंने जो कहा आप समझ गयीं न?"

"मुझे इसके बारे में और बताओ।"

"माँ, देखो ..... कृष्ण के सुख में कोई उतार चढ़ाव नहीं है। जब आप बालिका थीं तब सोने पर जो सुख लेती थीं, वही सुख वृद्ध होने पर भी लेती हो न? कहीं भी सोइये, वही सुख मिलता है न? कभी भी सोइये वही सुख मिलता है न? शरीर होने के कारण ही तुम अभी तक जाग जाती थीं और कृष्ण को भूल जाती थीं। अब आगे शरीर नहीं होगा, कृष्ण को भी नहीं भूलोगी। शरीर के होने से ही भूलना होता है न?"

"नहीं भूलने से क्या मतलब है? अब आगे मेरा जन्म नहीं होगा क्या?"

"माँ! जब शरीर ही नहीं है तो जन्म कैसे होगा?"

"लेकिन शरीर तो है न?"

"माँ आपको इस समय भी शरीर नहीं है, कैसे देखो! गहरी नींद में कृष्ण से एक होकर आनन्दावस्था में रहने पर आपको शरीर होता है क्या?"

"नहीं होता।"

"मैं उसी को कह रहा हूँ। अगर आप इसको भूलती हो तो आपका शरीर से सम्बन्ध होता है; नहीं तो शरीर ही नहीं है।"

"कृष्ण का भी तो शरीर था न?"

"था। सबके शरीर के समान एक दिन वह शरीर भी मर गया। फिर भी कृष्ण अब नहीं है क्या? कृष्ण न जाते हैं न आते हैं। सदा रहते ही हैं। आप भी सदा उनमें ही रहती हैं। आप भी न आती हैं न जाती हैं।"

"शंकर, शंकर ! तुमने मुझे अत्यन्त उत्तम विचार का बोध कराया है। तुमने जो कहा है बिल्कुल ठीक है; इसका अर्थ यह है कि मेरे को भी शरीर नहीं है और तुम्हें भी शरीर नहीं है। हाय! अपने को यह शरीर समझकर मैंने कितने कष्ट उठाये। अब पता पड़ा। एक कृष्ण ही है। 'मैं' भी नहीं, 'तुम' भी नहीं। इसके बाद व्यामोह नहीं है। दु:ख नहीं हैं। कितना अच्छा है! नारायण! विश्वनाथ! यहाँ आओ। तुम दोनों ने मेरी बहुत सेवा की है। सुखी रहो। अब मुझसे कोई बात न करें। सब बाहर चले जाओ", यह कहकर माँ ने आँखें बन्द कर लीं। ठीक दोपहर को उन्होंने शरीर त्याग दिया।

नारायण और विश्वनाथ की सहायता से शव को बाहर लिटा दिया गया। नदी से घड़ों में जल लाकर उन्होंने शव पर डाला। फिर शंकर ने तीन बार प्रदक्षिण करके नमस्कार किया और शव के मुँह में चावल के दाने डाले। "माँ! तुमने मुझे बड़े प्यार से पाल-पोस कर बड़ा किया। मैं तुम्हारी कुछ भी सेवा न कर पाया। तुम्हें अकेला छोड़कर चला गया। तुम मुझे 'मेरा मोती; मेरी आँखें; मेरा राजा, कहकर बुलाती थीं। मुझे 'चिरंजीवी रहो', का आशीर्वाद देनेवाले मुख में अन्तिम समय में चावल डालने के सिवा मैं और कुछ न कर सका। मुझे क्षमा करें", यह कहते हुये शंकर के सब्र का बाँध टूट गया और आँखों से आँसू बहने लगे।

शव के ऊपर सफेद वस्त्र डाला गया। नारायण पुरोहित जी को बुलाने चला गया। उसके साथ गाँव के नम्बूदरी ब्राह्मणों का एक समूह भी आया। उनमें से एक वृद्ध ने चर्चा शुरू की, "अन्तिम कर्म कौन करेगा? शंकर तो नहीं कर सकता, क्योंकि उसने तो यज्ञोपवीत निकाल कर फेंक दिया है। और कौन कर सकता है?"

"नारायण कर सकता है न?", शंकर ने कहा।

"उसके तो माता-पिता जीवित हैं, वह कैसे कर सकता है?"

"तब विश्वनाथ करेगा।"

"यह कर्म करने के लिये उसे क्या अधिकार है?"

"और कौन कर सकता है? आप ही बताइये।"

"दस दिनों तक अपरसंस्कार, बाद में वर्षभर में सोलह श्राद्ध, यह सब कौन करेगा? किसलिये करेगा?"

"यह सम्पत्ति लेकर तो हो सकता है न?"

भीड़ में से किसी ने कहा, "यह अपनी कौन सी सम्पत्ति की बात कर रहा है जरा पूछो तो सही"।

एक और ने कहा, "जा-जा, तेरी यह सम्पत्ति किसे चाहिये"।

शंकर कुछ देर चुप रहे फिर बोले, "छोड़ो, मैं ही कुछ करता हूँ", और शव उठाने आगे बढ़े।

"जिसने यज्ञोपवीत निकालकर फेंक दिया है उसे हम श्मशान में शव का संस्कार नहीं करने देंगे।"

पुनः कुछ देर मौन रहकर शंकर बोले," यही घर में पीछे आँगन में करूँगा। आप सब जा सकते हैं।"

"कुछ भी करो, हमें उससे क्या?", इतना कहकर सब ब्राह्मण चले गये। इतने में कोलाहल सुनकर अग्रहार से बाहर रहने वाले ब्राह्मणेतर जन वहाँ आये। ब्राह्मण युवक और शंकर के पुराने शिष्य भी वृद्धों से आँखें बचाकर आ गये। जलाने के लिये लकड़ी शूद्रों ने लाकर दी। शव को पीछे आँगन में ले जाया गया। इन सबके सहयोग से शव का संस्कार हुआ। उस समय जिन लोगों ने पैर की तरफ से शवयान को पकड़ा था वे 'काप्पल्लि इल्लं', कहलाये जाने लगे और जिन्होंने सिर की ओर से पकड़ा था वे 'तलेयाट्टिपिल्लि इल्लं' कहलाये गये। नदी में स्नान करके लौटने पर सबने शंकर को नमस्कार किया। ब्राह्मण युवकों ने कहा, "गुरु जी! हमारे बड़ों के व्यवहार पर आपका दुःख स्वाभाविक है। हम सभी आपके शिष्य हैं। आपका आशीर्वाद सदैव हम पर बना रहे। उनपर भी आप कुपित न हों। वह नहीं जानते कि आप कौन हैं, इसीलिये उन्होंने ऐसा किया।"

अगले दिन शंकर अपने बचपन के गुरुकुल के मित्रों और शिष्यों से मिले। शंकर ने गुरुपत्नी को नमस्कार करके उनका योगक्षेम पूछा। पुरानी

यादें ताजा हो आयीं। अपनी उत्तर भारत के प्रवास के विषय में सन्दर्भानुसार जितना आवश्यक था उतना बताकर उन्होंने फिर बदरीनाथ के मन्दिर के विषय में कहा, "सर्दी को छोड़कर और समय वहाँ बहुत तीर्थयात्री आते हैं। किन्तु वहाँ योग्य पुजारी नहीं है। वहाँ वेदाध्ययन भी क्षीण हो गया है। मैं वहाँ कहकर आया था कि पुजारियों को भेजूँगा। आप में से चार–पाँच लोग वहाँ जाकर इस कार्य को करेंगे तो धर्म की रक्षा होगी।" कुछ युवक बड़े उत्साह के साथ आगे आये। शंकर ने वहाँ के अध्यक्ष ब्रह्मदत्त जी को उनका परिचय लिखकर उन सबको बदरीनाथ भेज दिया। "मैं पहले शृङ्गेरी जाऊँगा" कहकर, वे दूसरी बार कालड़ी से अकेले निकल पड़े।

अध्याय ग्यारह

कालड़ी से शृङ्गेरी

तब तक मण्डन दम्पत्ति और पद्मपाद जी शृङ्गेरी में निवासस्थान ढूंढकर बस गये थे। पृथ्वीधर के आने के बाद शंकर जी के स्वागत के लिये जोर-शोर से तैयारियाँ होने लगीं। वहाँ के निवासियों के सहयोग से गाँव को तोरणों से सजाया गया। गाँव के बाहर शंकर जी को लिवा लाने के लिये कुछ लोग पहले से ही प्रतीक्षा में खड़े हो गये। शंकर के गाँव में प्रवेश करते ही अनेक प्रकार के बाजे, ढोल, नगाड़े, भेरी और घण्टे बजने लगे। जयकार की ध्वनि दूर-दूर तक के गाँवों तक जा पहुँची। वेदिका पर बैठे शंकर ने जनों को सम्बोधित किया:

"शृङ्गेरी अत्यन्त पवित्र और शान्त है। यह तप करने के लिये उत्कृष्ट स्थल है। ऋषि शृङ्ग आदि महामुनियों ने यहाँ तप किया है। अनेक श्रोत्रियों ने अपने श्रौतस्मार्त कर्मों से शृङ्गेरी को धर्मस्थान बनाया है। पूरे दक्षिण भारत का वेद-वेदान्त केन्द्र बनने के लिये यह योग्य स्थान है। इस स्थान को अलंकृत करने के लिये उत्तर भारत के माहिष्मती नगर से मण्डन मिश्र नाम के महात्मा यहाँ रहने के लिये आये हैं। ये प्रसिद्ध कुमारिल भट्ट जी के प्रत्यक्ष शिष्य हैं। इनका चरित्र पवित्र है। आगामी चैत्र मास की शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि को ये संन्यासदीक्षा ग्रहण करने वाले हैं। ये यहीं रहकर पढ़ायेंगे और प्रवचन करेंगे। पूरे दक्षिण भारत में संचार करेंगे। मैं इस गाँव की देवी शारदा माता से प्रार्थना करता हूँ कि वे अनुग्रह करें कि इनके नेतृत्व में शृङ्गेरी पूरे दक्षिण भारत में विद्या का केन्द्र बन जाये।"

संन्यासदीक्षा से एक दिन पहले मण्डन जी ने उपवास किया और अष्ठ श्राद्ध और विरजाहोम किया। रामनवमी के दिन संन्यासदीक्षा हुयी। मण्डन जी सुरेश्वराचार्य हुये। शंकर जी ने उनसे वहाँ एकत्रित विशाल जनसमूह को आशीर्वचन देने के लिये कहा।

सुरेश्वराचार्य ने कहा, "वेद अभ्युदय के लिये कर्ममार्ग को और मोक्ष

के लिये ज्ञानमार्ग को बताते हैं। अत्यन्त श्रम से किये जाने वाले कर्मों का फल अत्यन्त अल्प ही होता है। यह समझकर कुछ लोग सकाम कर्म को छोड़कर केवल विधिरूप से नित्य–नैमित्तिक कर्मों को करते हुये परमात्मा की आराधना करते हैं। इससे चित्त की शुद्धि होती है और वैराग्य उत्पन्न होता है। ऐसा विरक्त ही ज्ञानमार्ग का अधिकारी होता है। वह सभी कर्मों को त्यागकर, शम का आश्रय लेकर अपनी आत्मा परमपुरुष का चिन्तन करता है। इससे परमपुरुष की नित्यप्राप्ति रूप महान् फल की सिद्धि होती है। इस श्रेष्ठ तत्त्व का बोध कराकर शंकर भगवत्पाद ने मुझे कर्मबन्धन से मुक्त कर दिया। उन्होंने मुझे यहाँ रहने की आज्ञा दी है। वे यम को भी चुनौती देने में सक्षम दक्षिणामूर्त्ति–स्वरूप ही हैं; मुझे लगता है कि इसलिये उनका कार्यक्षेत्र दक्षिण हुआ है। उन्होंने मेरे ऊपर एक बहुत बड़ा दायित्व डाला है। केवल उन महानुभाव के अनुग्रह से और आप सबके सहयोग से ही मैं उस दायित्व को निभा सकता हूँ। इन दोनों के ही योग्य पात्र बनने के लिये मैं प्रयत्न करूँगा।"

शुक्लयजुर्वेदी और उत्तरभारतीय सुरेश्वर दक्षिणाम्नाय पीठ के प्रथम आचार्य हुये। उन्होंने पाठन और प्रवचन शुरू करे। उनकी विद्वता और सत्चरित्र से प्रभावित होकर कुछ ही समय में शृङ्गेरी के विद्वानों में उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न हो गयी।

श्रीबलि मँगलूर प्रान्त में एक गाँव है। उसे आज शिवल्लि के नाम से जाना जाता है। दक्षिणाम्नाय पीठ के उद्घाटन समारोह में वहाँ से अनेक विद्वान् और कर्मानुष्ठाननिरत व्यक्ति सम्मिलित हुये थे। उन्होंने अपने गाँव आने के लिये शंकर जी को आमन्त्रित किया। शंकर पृथ्वीधर और पद्मपाद दोनों को लेकर गये। वहाँ पाठन, प्रवचन और विचारगोष्ठियाँ आरंभ हुयीं। आसपास के गाँवों के विद्वान् और साधक वहाँ आकर सम्मिलित होने लगे। महात्मा के आगमन पर अपने दु:खों के निवारण के लिये आर्तजन दर्शन के लिये आते ही हैं। एक दिन ऐसे ही एक व्यक्ति ने आकर नमस्कार किया। अपने पुत्र से भी नमस्कार कराकर उन्होंने कहा:

"महास्वामी! मेरा नाम प्रभाकर शर्मा है। हम ऋग्वेदी हैं। यह मेरा पुत्र

है। बारह वर्ष का है। इसे अभी भी बोलना नहीं आता। इसकी किसी में भी आसक्ति नहीं है। खाने के लिये बुलाने पर ही आता है, स्वयं कभी नहीं पूछता। दूसरे बच्चों के साथ नहीं खेलता। किसी ने कहा कि इसका उपनयन संस्कार करा दो तो सब ठीक हो जायेगा। वह भी हो गया; परन्तु कोई फर्क नहीं पड़ा। कुछ लोग बोले कि किसी भूत-प्रेत की छाया है; इसलिये हम इसे मान्त्रिकों के पास भी ले गये, परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। वैद्यों ने कहा कि इसका स्वास्थ्य ठीक है और किसी भी औषधी की आवश्यकता नहीं है। मेरा एक ही पुत्र है! आपकी कृपा से ही यह ठीक हो सकता है।"

शंकर जी ने अपने हाथ से उसका सिर सहलाते हुये पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है?", कोई उत्तर नहीं आया।

शंकर ने उसके पिता की ओर इशारा करके पूछा, "इनका क्या नाम है?", फिर भी कोई उत्तर नहीं मिला।

"तुम किसलिये जड़ हो, बताओ?"

"मैं जड़ नहीं हूँ। सदा समान रीति से रहने वाला आत्मस्वरूप हूँ। मेरे में किसी व्यवहार के लिये प्रवृत्ति नहीं है", इतना कहकर वह चुप हो गया। शंकर जी को सन्तोष हुआ, साथ-साथ आश्चर्य भी हुआ। हाथ (हस्त) पर रखे आँवले (आमलक) के समान उसे आत्मतत्त्व स्पष्ट रूप से मालूम था। यह देखकर शंकर जी ने उसे 'हस्तामलक' के नाम से पुकारा। प्रभाकर शर्मा जी अवाक् रह गये और बोले,

"स्वामी जी! मेरा पुत्र भूतग्रस्त है यह सोचकर मैं अत्यन्त दु:खी था। आपकी कृपा से मेरा दु:ख दूर हो गया। "बार-बार शंकर को नमस्कार करके पुत्र को बोले, "आओ चलें"।

"शर्मा जी यह स्पष्ट है कि यह उत्तम ज्ञानी है। इसका उपयोग मेरे लिये है आपके लिये नहीं। यह सदा चुप बैठा रहता है, इससे आपको भविष्य में दु:ख ही होगा। अत:, इसे मैं ले जाता हूँ। मुझे दे दीजिये", शंकर ने कहा। प्रभाकर जी सोचने लगे कि ब्याज की इच्छा से इनके पास आया था, परन्तु मूलधन ही खो बैठा' शंकर जी ने फिर कहा, "शर्मा जी चिन्ता मत करो। भविष्य में आपके और भी बच्चे होंगे। वे स्वस्थ, बुद्धिमान और

दीर्घायु होंगे। वे माता–पिता में भक्ति रखने वाले होंगे। इसको मैं ले जाता हूँ।"

शर्मा जी ने पुत्र से पूछा, "जाओगे क्या?" उसने कुछ नहीं कहा केवल पिता को नमस्कार करके शंकर जी के पीछे जाकर खड़ा हो गया! शर्मा जी की आँखों में पानी भर आया। अपने आँसुओं को पोंछते हुये वे वहाँ से चले गये।

दो–तीन दिन बाद दोपहर के सत्संग के बाद शंकर ने पशुपतिनाथ मन्दिर का प्रस्ताव रखने से पहले भूमिका के रूप में कहा, "आपके गाँव में सम्यक् रूप से वेदाध्ययन को देखकर मुझे बहुत सन्तोष हुआ है। किन्तु हमारे देश के उत्तरभाग के प्रान्त–प्रदेशों में वेदाध्ययन कुण्ठित हो गया है। नेपाल में तो परिस्थिति शोचनीय है। वहाँ के सुप्रसिद्ध पशुपतिनाथ मन्दिर में अत्यधिक संख्या में तीर्थयात्री आते हैं। लेकिन व्यवस्थित रूप से पूजा के क्रम को जाननेवाले लोग नहीं हैं। यहाँ से अगर कुछ युवक जाकर शास्त्रोक्त रीति से पूजादि कर्म और अध्यापन का कार्य करेंगे तो धर्म की रक्षा के लिये मार्ग बनेगा। क्या कोई जाने के लिये तैयार हैं?

कुछ देर बाद एक युवक ने पूछा, "वहाँ की व्यवस्था किसके हाथ में है?"

"महाराजा की ही सारी व्यवस्था है। वे आपकी सब सुविधाओं का ध्यान रखेंगे।"

"हम उन्हें कैसे सम्पर्क कर सकते हैं?"

"मैं आपको परिचय–पत्र लिखकर दूँगा। मैं उनसे पहले ही बात कर चुका हूँ। उनको यह पत्र दिखलाना ही काफी होगा। वह आपके लिये सब सुविधाओं की व्यवस्था कर देंगे।"

"ऐसा है तो हम जायेंगे", कहकर पाँच युवक आगे आये। शंकर जी ने परचियपत्र देकर उन्हें नेपाल भेज दिया। आज भी वहाँ यही व्यवस्था कायम है।

श्रीबलि से लौटने पर शंकर ने भाष्य पढ़ाना आरंभ किया। बीस वर्ष की आयु का एक युवक वहाँ उपस्थित रहता था। वह लम्बा और हुष्ट–पुष्ट

था और कभी किसी से बातचीत नहीं करता था। दूसरों से पहले आकर कोने में एक खम्भे के पास बैठ जाता था। एक दिन पाठ के बाद उसने अत्यन्त भक्ति के साथ गुरु जी को नमस्कार किया और अपना परिचय दिया:

"मेरा नाम गिरि है। मैं केरल से हूँ। मैं आपके साथ रहकर आपकी सेवा करना चाहता हूँ। क्या ऐसा हो सकता है?

"क्या वेदाध्ययन हुआ है?"

"कुछ-कुछ"

"आपका कौन सा वेद है?"

"अथर्ववेद।"

"आपके पिता क्या करते हैं?"

"वह वैद्य हैं। उनका एक छोटा सा बगीचा भी है।"

"क्या आपके माता-पिता को पता है कि आप यहाँ आये हैं?"

"मैं उनकी आज्ञा लेकर ही आया हूँ। मैंने उन्हें बता दिया है कि संसार में मेरी आसक्ति नहीं है। मेरी माँ को बहुत दु:ख हुआ। परन्तु इसकी जन्मपुत्री में संन्यास का योग है', यह कहकर पिता जी ने माँ को सान्त्वना दी। आपके बारे में उन्होंने सुना है। उन्होंने ही मुझे आपके पास भेजा है।"

तत्पश्चात् गुरु जी की सेवा का सारा कार्य उसके द्वारा ही होने लगा। दन्तधावन के लिये नीम की टहनी लाना, कपड़े धोना, आसन की व्यवस्था करना, अनुष्ठान की व्यवस्था करना, यह सब वह ही करता था।

एक दिन वह गुरु जी के वस्त्र धोने नदी पर गया हुआ था। पाठ का समय हो गया था। सब आकर बैठ गये। फिर भी गुरु जी ने पाठ शुरू नहीं किया। पाठ में प्रतिदिन आने वाले एक गृहस्थ ने शंकर जी की ओर देखते हुये कहा, "पाठ शुरू कर सकते हैं न?"

"गिरि अभी तक नहीं आया है; उसकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

"गिरि तो आकर बैठ चुका है!"

उसने हँसते हुये कहा।

"कहाँ?"

"यहाँ", कहकर उसने उस खम्भे की ओर इशारा किया जहाँ गिरि बैठता था। कुछ लोग हँस पड़े। गुरु जी, बिना कोई प्रतिक्रिया दिये, मौन बैठे रहे। कुछ ही देर में गिरि दौड़ता हुआ आया और उसी खम्भे के पास बैठ गया। बाद में गुरु जी ने पाठ आरंभ किया। पाठ के अन्त में उन्होंने कहा,

"परसों गिरि संन्यासदीक्षा स्वीकार करेंगे। अतः, कल और परसों पाठ नहीं होगा।"

गिरि को आश्चर्य हुआ। दूसरों को भी आश्चर्य हुआ।

संन्यासदीक्षा के बाद सम्मिलित हुयी सभा में शंकर ने नये संन्यासी के प्रति कहा,

"किसी भी विषय पर कुछ वाक्य बोलिये।"

गिरि डरे हुये थे। फिर भी उठकर बोले, लोगों को सम्बोधित करके नहीं, बल्कि गुरु को सम्बोधित करके,

"भगवन्! मुझमें शास्त्रविषयों पर बोलने का सामर्थ्य नहीं है। इन दो महीनों में आपके द्वारा कहे अमृत वचनों के अलावा मैंने और किसी शास्त्र का श्रवण नहीं किया है। लेकिन आपके दर्शन से ही मुझे यह अनुभव हो रहा है कि मैं भवसागर से दूर जा रहा हूँ। आपके वचनों को सुनने के बाद मुझे इस बात का कोई दुःख नहीं रहा कि मैंने किसी शास्त्र का अध्ययन नहीं किया। आप सकल शास्त्रों में पारंगत हैं। फिर भी मेरे जैसे अकिंचन पर भी अपार करुणा रखते हैं। आप मेरे जैसे दीनों के उद्धार के लिये ही देशभर में संचार कर रहे हैं। भगवन्! मैं आपकी शरण में आया हूँ। मेरा उद्धार कीजिये", यह कहकर फिर उन्होंने अनुभवी कवियों के लिये भी जो दुष्कर है उस तोटक छन्द में आठ श्लोकों की रचना करके सुनायी। फिर काँपते हुये शरीर से नमस्कार किया। ऐसा करते हुये उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे। यही गिरि आगे चलकर तोत्काचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुये। ऐसा अद्भुत चमत्कार गुरुकृपा के फल के सिवाय और क्या हो सकता है! बाद में गिरि को स्तम्भ कहकर हँसी उड़ाने वाला गृहस्थ शंकर को नमस्कार करके बोला,

"मैंने परसों बहुत अनुचित बर्ताव किया। कृपया मुझे क्षमा करें। मुझ पर अनुग्रह करें कि मैं भी गिरि जैसा साधक बन सकूँ।"

"मन यदि सात्त्विक होकर अन्तर्मुखी न बने तो वेदान्तश्रवण का कोई लाभ नहीं है। कठोर शब्द बोलना एक बहुत बड़ा दोष है। अपने चिन्तन में सात्त्विकता लाने का अभ्यास करो। तब वाणी भी सहज रूप से सात्त्विक हो जाती है", शंकर जी ने कहा।

कुछ दिन के बाद, आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी को प्रदोष में श्रीबलि से शंकर जी के साथ आये प्रभाकर शर्मा के पुत्र ने संन्यासदीक्षा स्वीकार की और हस्तामलक आचार्य हुये। शंकर ने सुरेश्वर द्वारा अपने बृहदारण्यक और तैत्तिरीय भाष्यों पर वार्तिकों की, तथा नैष्कर्म्यसिद्धि नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना भी करायी।

एक दिन जब पृथ्वीधर ने गुरु जी के कमरे में प्रवेश करके नमस्कार किया तो गुरु जी ने पूछा, "आप केरल में रहकर आये हो न, आपने बताया ही नहीं कि वहाँ आपने क्या देखा।"

"मैं जब भी आपको बताने आता तो आप किसी न किसी के साथ व्यस्त होते। अगर अभी आपके पास समय हो तो मैं कहता हूँ।"

"अभी बोलो, समय है। बाद में समय होगा या नहीं मैं नहीं कह सकता।"

पृथ्वीधर ने बोलना आरंभ किया, "आपने हमें बताया था कि सिन्धु देश में मुसलमानों की क्रूरता के कारण हमारे लोगों ने धर्मपरिवर्तन कर लिया। पता पड़ा है कि केरल में यही काम कुछ लोग धोखे से कर रहे हैं।"

कुतूहल से गुरु जी ने पूछा," वे लोग कौन हैं? किस प्रकार से धोखा कर रहे हैं?"

"लगभग सात सौ वर्ष पहले सिरिया नामक देश में क्रिस्तान नाम के लोग रहते थे। उनके शत्रु उन्हें सताते थे इसलिये वे केरल के समुद्रतट पर आकर बस गये। सामुद्रिय नामक राजा ने उन्हें आश्रय दिया और उनकी इच्छानुसार उन्हें अलग से बसने की जगह दी। धीरे-धीरे उनकी माँगे बढ़ती गयीं। ग्रामपंचायत में उनकी गणना एक पृथक् वर्ग के रूप में होने लगी। उनको हमारे लोगों के समान अधिकारों का ताम्रपत्र दिया गया![1] उनको जो जगह दी गयी थी वहाँ एक तालाब था। स्नान करने के लिये और पानी पीने

के लिये हमारे लोग उसी तालाब का उपयोग करते थे। कुछ दिनों बाद वहाँ क्रिस्तान भी आने लगे। धीरे-धीरे वे हमारे लोगों से कहने लगे, "हम भारतीय नहीं हैं क्रिस्तान हैं। हम यहाँ स्नान करके जल पीते हैं। आप भी यही जल पी रहे हैं। इसलिये, आप भी क्रिस्तान बन गये हैं।"

हमारे सीधे-साधे लोगों के मन में खलबली मच गयी। यह समाचार सब तक पहुँच गया। तब वहाँ के ब्राह्मणों ने उनका बहिष्कार किया! तब से जितने लोगों ने तालाब के जल का उपयोग किया था सब के सब क्रिस्तान बन गये।"

यह कथा सुनकर शंकर खेदपूर्वक हँस पड़े। "आगे क्या हुआ? बताओ।"

वहाँ के क्रिस्तानों के उस समय दो दल थे। एक समूह के लोगों के इस व्यवहार की निन्दा करके दूसरे समूह ने अपने धर्मगुरु को एक पत्र लिखा कि, 'वे सीधे-साधे लोगों को धोखे से क्रिस्तानमत में परिवर्तित करके उनसे पैसा इकट्ठा कर रहे हैं। उनको यह बताया ही नहीं गया है कि ईसाई धर्म क्या है। अगर उनको रोका नहीं गया तो ईसाई धर्म की बड़ी बदनामी होगी।'[2] जब निन्दित समूह को यह बात पता पड़ी तो उन्होंने धन इकट्ठा करना छोड़ दिया। तब हमारे लोग खेद में पड़ गये कि 'हम लोग न तो क्रिस्तान है न भारतीय हैं। आखिरकार ईसाइयों के धर्मगुरु ने उनके पत्र का उत्तर इस प्रकार दिया, 'चाहे धोखा करो या जबरदस्ती करो, कुछ भी करो, वह मुख्य नहीं है। परन्तु किसी भी प्रकार धर्म-परिवर्तन करते रहो और उनसे धन लेते रहो।' तब से, धोखे के साथ-साथ जबरदस्ती करके भी धर्मपरिवर्तन किये जा रहे हैं। अब तक हमारे हजारों लोग क्रिस्तान बन चुके हैं। धन भी दे रहे हैं।"[3]

शंकर जी बोले, "आपकी बात सुनकर मुझे समझ नहीं आ रहा है कि मैं रोऊँ या हँसू। परन्तु इस सम्बन्ध में हम इस समय कोई भी कदम उठाने में शक्त नहीं है; इसलिये अभी इस विषय को वैसे ही रहने दीजिये। परन्तु देखो कि अभी तक के हमारे कार्य में माँ भगवती ने कितनी कृपा की है। आज हमारे पास चारों वेदों से एक-एक शिष्य है। हस्तामलक ऋग्वेदी हैं; सुरेश्वर यजुर्वेदी, पद्मपाद सामवेदी हैं और तोटक अथर्वेदी हैं! भगवती की यह लीला क्या कहती है बोलो?"

पृथ्वीधर ने मुस्कराते हुये कहा, "देश की चारों दिशाओं की सूचना दे रही है।"

"बिल्कुल ठीक कहा। अब सुरेश्वर दक्षिण को देख रहे हैं। यदि हस्तामलक पूर्व में, पद्मपाद पश्चिम में और तोटक उत्तर में सुस्थित हो जायेंगे तो व्यवस्था पूर्ण हो जायेगी न!

"गुरु जी! यह अद्भुत चिन्तन है।"

"अब प्रश्न यह है कि तीनों दिशाओं में उपयुक्त स्थान कौन से हैं? पश्चिम में द्वारका, और उत्तर में बद्रीनाथ इनका मैं चयन कर चुका हूँ। परन्तु पूर्व भाग में मैंने संचार नहीं किया है। वहाँ स्थान कौन सा हो? तुम्हारा क्या ख्याल है?

"आप स्थान के लक्षण बताएँगे तो विचार कर सकते हैं।"

"लोगों को उस स्थान का परिचय होना चाहिये। तीर्थस्थल हो तो उत्तम होगा क्योंकि वहाँ लोगों के रहने की व्यवस्था होती है।"

"पूर्व में कामरूप में जगह ढूंढी जा सकती है; वहाँ ध्रुव ने तप किया था।"

"वह उचित स्थान है परन्तु वहाँ पहुँचना लोगों के लिये बहुत कष्टकारी है।"

"तब जगन्नाथ स्वामी जी का क्षेत्र पुरी ठीक रहेगा क्या?"

"बहुत अच्छा रहेगा। अगर चारों दिशाओं में आम्नाय पीठों की स्थापना हो जायेगी तो सम्पूर्ण देश ही एक यज्ञवेदी की तरह हो जायेगा। आप पुरी जाने की तैयारी करिये। वहाँ वे विद्वान् ब्राह्मणों और राजा से बात करके उचित स्थान का निश्चय करिये। यह सब करने में आपको कितना समय लगेगा?"

"वहाँ पहुँचने में मुझे एक महीना लगेगा। इसका अर्थ यह है कि इस कार्य में लगभग दो से तीन महीने लगेंगे।"

"तीन या चार महीने भी होने दो। अपनी यात्रा के लिये यात्रियों के रथों और गाड़ियों का उपयोग करो। केवल पैदल चलने की ही आवश्यकता नहीं

है। पद्मपाद जी, हस्तामलक जी और तोटक जी के साथ मैं भी चार महीनों के भीतर वहाँ पहुँचूँगा। तब तक आपका कार्य पूरा हो जायेगा न?"

"भगवन्! आपने जिस कार्य का संकल्प लिया है वह तो पूरा होगा ही। मुझे आशीर्वाद देकर भेजिये।"

पृथ्वीधर जी जगन्नाथ पुरी के लिये रवाना हो गये।

अगले दिन शंकर जी ने अपने चार संन्यासी शिष्यों को सम्बोधित करके कहा,

"आपको कुछ मुख्य विष्यों से अवगत कराने का समय आ गया है। ध्यान से सुनिये। 'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः', मोक्षप्राप्ति से बड़ा जीवन का कोई उद्देश्य नहीं है। किन्तु मोक्ष की साधना शान्तिरहित वातावरण में सम्भव नहीं है और शान्ति का आधार है धर्म। धर्म, कर्म के रूप में व्यक्त होता है। कर्म का आधार है शास्त्र– 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य–व्यवस्थितौ'। इस कर्म के दो अंग हैं– व्यष्टिकर्म और समष्टिकर्म। व्यष्टिकर्म होता है अपने इष्ट की प्राप्ति के लिये और अनिष्ट के परिहार के लिये। कुएँ खुदवाना, वृक्षों को बोना इत्यादि पूर्तकर्म समष्टिकर्म होते हैं। समष्टिकर्म से दूसरों का तुरन्त लाभ मिलता है और स्वयं को कालक्रम से मिलता है। स्वाध्याय व्यष्टिकर्म है और प्रवचन समष्टिकर्म। ब्राह्मण को स्वाध्याय और प्रवचन कभी नहीं छोड़ने चाहिये। और, प्रवचन का अधिकार तो केवल ब्राह्मण को है। इतना ही नहीं, ये ही दोनों ब्राह्मण के लिये अतिश्रेष्ठ तप हैं –'स्वाध्यायप्रवचने वेति ना को मौद्गल्यः तद्धि तपस्तद्धि तपः'।"

"क्या कारण है कि यही दोनों श्रेष्ठ तप हैं? सम्पूर्ण समाज का योगक्षेम इस तप के आधार पर ही स्थित है। जब तक यह सुचारु रूप से चलता रहता है तब तक समाज में शान्ति रहती है। इसके कुण्ठित होने पर शान्ति भंग हो जाती है। इसीलिये अतिश्रेष्ठ है। इसी प्रकार क्षत्रिय का तप है प्रजापालन और युद्ध से पीछे नहीं हटना। वैश्य का तप है न्यायपूर्वक व्यापार करना। सबके लिये आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करके समाज का पोषण करना शूद्र का तप है। लेकिन प्रत्येक वर्ण को अपने–अपने तप में प्रवृत्त करने का उत्तरदायित्व ब्राह्मण का है। इतिहास साक्षी है कि ब्राह्मण के इसी कर्म के कारण यह धर्म अनादिकाल से सम्प्रदायरूप चला आया है।"

"इस प्रकार प्रवचन किसी एक वर्ण, किसी एक विषय या किसी एक समय तक ही सीमित नहीं है। इतना होने पर भी कोई एक ही व्यक्ति सबको, सब विषयों पर, सब समय प्रवचन नहीं कर सकता। परन्तु अपने आस-पास स्थित सभी वर्णों के लोगों को उनके अधिकार और संस्कार के अनुसार सभी विषयों का ज्ञान देना चाहिये। इस पुण्य भूमि में प्रधानतया वैष्णव, सौर, शैव, शाक्त, गाणपत्य और कौमार हैं। यह सब भगवान् के भक्त ही हैं- 'सर्वदेवनमस्कार: केशवं प्रति गच्छति'। परन्तु कुछ लोगों की रुचि तामसिक पूजा में होती है। उनकी जिस देवता में श्रद्धा है उस श्रद्धा में बाधा डाले बिना उन्हें सात्त्विक पूजा के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये। उसी प्रकार यह देखना चाहिये कि अन्य देवताओं के विषय में भी द्वेष न हो। अत:, विष्णु, सूर्य, शिव, शक्ति, गणपति सबका आयतन रूप में स्थापन करना सिखाना चाहिये। यह पुराणों के श्रवण से साध्य होता है। पुराणों का श्रवण केवल उनके लिये नहीं होता जिनका वेदों में अधिकार नहीं है, बल्कि सभी वर्णों के लिये होना चाहिये। 'श्रावयेत् चतुरो वर्णान्' चारों वर्णों को पुराणों का श्रवण कराना चाहिये, ऐसा व्यास जी कहते हैं। अत:, अलग-अलग शास्त्रों के विद्वानों को तैयार करने के लिये और उनके द्वारा सब वर्णों को प्रवचन कराने की आप लोगों द्वारा व्यवस्था होनी चाहिये। आपको प्रयत्न करके तेजस्वी, वर्चस्वी और दूरदर्शी शिष्यों को प्राप्त करना चाहिये। ऐसे लोगों को दृष्टिगोचर करने के लिये आपको निरन्तर संचार करते रहना चाहिये।"

"मुझे ऐसा लगता है कि आगामी दिनों में क्षोभ बढ़ता जायेगा; सभी वर्णों के लोगों में तमोगुण बढ़ रहा है।

इसको नियन्त्रण करने के लिये आपको प्रयत्न करने चाहियें। आप चारों ज्ञानी ही हैं। आपको श्रवण, मनन और निदिध्यासन की आवश्यकता नहीं है। गुणातीत स्वरूप में स्थित होने पर भी आप सत्त्वगुण का आश्रय लेकर इस महान् कार्य में प्रवृत्त होइये। लोगों को ऐसा नहीं लगना चाहिये कि आप केवल वेदान्त के लिये ही हैं। कर्म में आसक्त अज्ञानियों को सत्कर्म करने की प्रेरणा दीजिये। तमोगुण का नाश केवल शास्त्रीय नित्य-नैमित्तिक कर्मों द्वारा ही संभव है। आप चारों वर्णों के मार्गदर्शक बनिये। सभी साधकों

को आपसे लाभ मिले। आप चारों दिशाओं में रहकर सबके प्रेम और श्रद्धा के पात्र बनकर जगद्गुरु बनिये।"

शंकर जी के अपनी बात समाप्त करते ही सब शिष्यों की आँखों से आँसू बहने लगे। 'क्या गुरु जी हमसे दूर हो जायेंगे?', इस शंका ने उन्हें शोक में डुबो दिया। शंकर के प्रेम के सामने उनका आत्मज्ञान पराजित हो गया।

शंकर के पुरी जाने का समय आ गया। उन्होंने पहले उभय भारती देवी के पास जाकर साष्टांग नमस्कार किया। वे तुरन्त पीछे हटीं और बोलीं, "यह आप क्या कर रहे हैं? मुझे आपको नमस्कार करना चाहिये ना कि आपको मुझे।"

"माँ! आप ही इस स्थल की देवी शारदा हैं। मैं आपका पुत्र हूँ। अब प्रस्थान कर रहा हूँ। कृपया आशीर्वाद दीजिये।"

"फिर कब आयेंगे?"

शंकर केवल मुस्कराए और वहाँ से चले गये। उभय भारती के मुख से एक शब्द भी नहीं निकला। 'मुझे पता नहीं पड़ रहा कि यह मुझसे बहुत प्रेम करता है या बिल्कुल भी प्रेम नहीं करता! अन्त तक यह पहेली ही रहा न! आखिर यह बालक कौन है? हमेशा काम काम, घूमना घूमना! अहो! यह कितना परिश्रम करता है!', अपने आँचल से मुँह ढँककर रोने लगी। "हाय! यह मेरे लिये बेटे से भी ज्यादा हो गया है न! लेकिन इस बालक में मेरा मोह गलत है। गलत है तो क्या हुआ! वह मेरी आत्मा ही तो है न! इसीलिये मुझे यह मोह हो रहा है ..... नहीं, नहीं। यह मोह गलत ही है। इसमें भेदभाव है। यह ठीक नहीं है। इससे जो तत्त्व मैंने सीखा है उसे अपने जीवन में उतार लेना चाहिये। अब से मैं भारती हूँ यह भाव छोड़कर अपनी आत्मा में ही रहूँगी", ऐसा अपने आप से बोलते हुये उन्होंने अपने आँसू पोंछ डाले।

शंकर तब तक सुरेश्वर के पास आ गये थे। उन्होंने तुरन्त उठकर गुरु को नमस्कार किया।

"मैं प्रस्थान कर रहा हूँ। अब से हस्तामलक पुरी में, पद्मपाद द्वारका में और तोटक बदरीनाथ में रहेंगे। मुझे अब पुरी जाना है," इतना कहकर,

रोते हुये सुरेश्वर को एक भी शब्द कहने का अवसर न देकर, तीनों शिष्यों के साथ वे चल पड़े। उनके जाने का समाचार शृङ्गेरी में किसी को भी नहीं था। वह हमेशा ऐसे ही थे। जब वह किसी गाँव में पहुँचते थे तो हजारों लोग उनके स्वागत के लिये खड़े होते थे। परन्तु जाते समय वह बिना किसी को सूचना दिये प्रस्थान करते थे।

शंकर के प्रस्थान करने के तीन दिन बाद उभय भारती देवी ने समाधि में बैठे–बैठे ही अपना शरीर त्याग दिया। उनकी आत्मा शृङ्गेरी की शारदा माता में लीन हो गयी।

• • •

---

1. R.G.Pothan : Syrian Christians of Kerala (1963) – p. 22 & p. 32-33; J.M.Lord : the Jews in India and The Far East (1907) – p. 62-63
2. K.A.Nilakantha Sastri : History of South India (1958) – p. 429
3. Francis Day : The Land of the Perumals (1863) – p. 234

अध्याय बारह

शृङ्गेरी से पुरी

शंकरपरिवार के प्रवेश करते ही पुरी के राजा ने नगर के द्वार पर पूर्णकुम्भ से उनका स्वागत किया। जगन्नाथ मन्दिर के ब्राह्मणों ने वेदघोष किया। ढोल-नगाड़े बज उठे। गगनभेदी जयकार हुयी। राजा ने शंकर को पालकी दिखाकर उसमें बैठने के लिये कहा। परन्तु शंकर केवल उसको छूकर पैदल ही चलने लगे। महल के सामने एक विशाल प्राँगण में सभा का आयोजन किया गया था। पहले महाराज ने शंकर जी की पादपूजा की। बाद में पृथ्वीधर ने शंकर का परिचय दिया और तत्पश्चात् शंकर का आशीर्वचन हुआ।

अगले दिन से ही पाठ और प्रवचन शुरू हो गये। उनके बीच में विद्वान् श्रोता अपने शास्त्रों के अध्ययन के आधार पर प्रश्न पूछा करते थे। यह युवा संन्यासी उनकी सब शंकाएँ दूर करता था। इससे प्रभावित होकर राजा ने अपने राज्य के सभी विद्वानों को इस कार्यक्रम में भाग लेने के लिये आमन्त्रित किया। शंकर जी भी यही चाहते थे।

एक दिन एक युवक ने प्रश्न किया "गुरु जी! भगवान् ने जगत् की सृष्टि क्यों की?"

"जीवों के भोग और मोक्ष के लिये। जगत् यदि न हो तो जीव के लिये भोग और मोक्ष दोनों ही साध्य नहीं होंगे।"

"जीवों की सृष्टि तो जगत् की सृष्टि के बहुत समय बाद हुयी। तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि यह सृष्टि जीवों के लिये हुयी है?"

"ऐसा नहीं है। जीव न जन्म लेता है न मरता है। हमेशा रहता है। 'न जायते म्रियते वा कदाचित् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः', भगवद्गीता का यह वाक्य सुना है न?"

"सुना है। किन्तु समझा नहीं है। मैं समझता था कि जीव पहले नहीं होता, नया जन्म प्राप्त करता है और जन्म लेकर फिर मृत्यु को प्राप्त करता है।"

"यह ठीक नहीं है। शरीर का जन्म और मरण प्रत्यक्ष है। किन्तु उसके अन्दर रहने वाला जीव न जन्म लेता है न मरता है। जीव तो शरीर से भिन्न ही है।

"वह कैसे?"

"देखो कैसे। आप सोते हो घर में परन्तु स्वप्न में और ही कहीं घूमते हो। उस समय अगर आपके शरीर पर साँप भी रेंग जाये तो आपको पता नहीं पड़ेगा। इसलिये, आप शरीर से अलग हैं यह उस समय स्पष्ट हो जाता है न?"

"सचमुच। आपके उत्तर ने मुझ पर महान् उपकार किया है। क्योंकि यह मेरा अपना अनुभव है इसलिये इसे नकारा नहीं जा सकता। किन्तु एक संशय है। शरीर से भिन्न होने पर भी शरीर के साथ ही मैंने भी जन्म प्राप्त किया ऐसा क्यों नहीं हो सकता?"

"जीव उस प्रकार मरणशील नहीं है। कैसे, देखो। कोई भी हो, वह वही काम कर सकता है जिसे पहले सीख चुका हो। जिसे नहीं सीखा गया है वह काम नहीं कर सकता। किन्तु नवजात शिशु पैदा होते ही स्तनपान करने लगता है। उसने अभी-अभी तो नहीं सीखा है फिर भी करता है। दूसरे प्राणियों में भी इसी प्रकार होता है। अण्डे से बाहर निकलते ही छिपकली मक्खी को पकड़कर निगल जाती है। एक नवजात बिच्छू को भी डंक मारना आता है।"

"यह सब कैसे हो सकता है? पूर्वजन्मों में सीखा हुआ जीव ही इस जन्म में भी कर सकता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि इस शरीर के जन्म से पहले जीव दूसरे शरीर में रहता था।"

"किन्तु अब एक सन्देह है। अभी मैं जो काम कर रहा हूँ उसे मैंने इसी शरीर से सीखा है। यह सीखने का अनुभव होता है बुद्धि में। वह बुद्धि होती है इसी शरीर में। पूर्वजन्म में सीखा गया अनुभव तब के शरीर के नाश होने पर नष्ट नहीं होता क्या? वह अनुभव इस शरीर में कैसे आता है?"

"आपका प्रश्न अच्छा है। इसका उत्तर एकाग्रता से सुनो। यह स्थूल शरीर जड़ है- इसमें स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की क्षमता नहीं है। पाँच

कर्मेन्द्रियाँ इसके द्वारा कर्म कराती हैं। सुविधा के लिये उन सबको मिलाकर वाक् कहते हैं; और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और मन को मिलाकर मन कहते हैं। और पाँचों प्राणों को प्राण ऐसा कहते हैं। ये तीनों शरीर से अलग हैं। जब इन तीनों द्वारा शरीर से कोई कर्म कराया जाता है तब यह क्रिया इन तीनों के ऊपर ही आकर प्रतिक्रिया करती है। अगर अच्छी क्रिया करायी गयी होती है तो अच्छी प्रतिक्रिया होती है, अगर दुष्ट क्रिया करायी गयी होती है तो प्रतिक्रिया भी दुष्ट ही होती है। अच्छी क्रिया अपने विरुद्ध दुष्ट प्रतिक्रिया को नष्ट करती है और दुष्ट क्रिया अपने विरुद्ध अच्छी प्रतिक्रिया को नष्ट करती है। मरणसमय निकट आने पर मनुष्य बिस्तर पकड़ लेता है। वाक्, मन और प्राण में बाधा पड़ने लगती है। अभी तक वाक् पर जो विविध प्रतिक्रियाएँ हुयी थीं उनमें से कुछ को इकट्ठा करके वाक् अपना व्यवहार छोड़कर घनरूप को प्राप्त होती है। इस घनरूप की आकृति को वाग्वृत्ति कहते हैं। मन अभी तक व्यवहार कर रहा होता है। वाग्वृत्ति उस मन में जा मिलती है। उस समय मृत्युग्रस्त व्यक्ति देख सकता है और सुन सकता है परन्तु बोल नहीं सकता। इसके बाद मन की बारी आती है। वह अब तक अपने ऊपर हुयी प्रतिक्रियाओं में से कुछ को इकट्ठा करके अपना व्यवहार छोड़कर घनरुप को प्राप्त होता है। उसे मनोवृत्ति कहते हैं। यह जाकर प्राण में मिल जाती है। तत्पश्चात् वाक् और मन के समान प्राण भी अपने ऊपर हुयी प्रतिक्रियाओं में से एक अंश को ग्रहण करके प्राणवृत्ति को प्राप्त होकर व्यवहार छोड़ देता है।"

"वृत्ति क्या होती है?"

"वाग्वृत्ति, मनोवृत्ति और प्राणवृत्ति अगले शरीर के वाक्, मन और प्राण की बीजरूप होती हैं। इनके अनुसार ही अगला जन्म होता है। इस प्रकार पिछले जन्म से इस जन्म में लाये गये कर्मों को प्रारब्ध कर्म कहते हैं।"

"इन वृत्तियों में प्रतिक्रियाओं का अगर एक ही अंश लिया होता है तो बाकी अंशों का क्या होता है?"

"बाकी अंश भविष्य में और किसी जन्म में काम आने के लिये वाक्, मन और प्राण में ही बचा रहता है। कर्म के इस भाग को संचित कर्म कहते

हैं। इस जन्म में किये कर्मों को आगामी कर्म कहते हैं। इस प्रकार वाग्वृत्ति को घेरकर मनोवृत्ति और उसको घेरकर प्राणवृत्ति रहती है। जीवात्मा इनके अन्दर होता है। अंततः यह प्राणवृत्ति शरीर की गरमी के साथ नौ द्वारों में से किसी एक द्वार में से निकल जाती है। जीवात्मा भी उसके साथ निकल जाता है। अब तक जो शरीर सुन्दर था वही भयानक लगने लगता है। जिस शरीर का स्वागत बन्धु और मित्र सब करते थे, अब उसी शरीर को पत्नी देखने से भी डरती है।

यावत्पवनो निवसति देहे तावत्पृच्छति कुशलं गेहे।
गतवति वायौ देहापाये भार्या बिभ्यति तस्मिन् काये।।

बड़ी आशा से, बड़े परिश्रम से कमाया सबकुछ, मरने पर छोड़कर जाना पड़ेगा, यह निश्चित होने पर भी आशा नहीं छोड़ी जाती।

अंङ्ग गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम्।।

जो अपने को कभी नहीं छोड़ता है, सदा अपने साथ रहता है, उस परमात्मा का चिन्तन कभी किया क्या? बचपन खेल में निकल गया। जवानी काम-वासना में। बुढ़ापा चिन्ता में बीत गया। मैं जन्म प्राप्त करके किसलिये जी रहा हूँ यह एक क्षण भी विचार नहीं किया न?

बालस्तावत् क्रीडासक्तः तरुणस्तावत् तरुणीसक्तः।।
वृद्धस्तावत् चिन्तासक्तः परे ब्रह्मणि कोऽपि न सक्तः।।

हर जन्म में दूसरे-दूसरे पति, पत्नी, पुत्र, पुत्री होते हैं। उस समय उन-उनमें मोह होता है। बाद में वे कौन? मैं कौन? इस बन्धुपन का क्या अर्थ है?

का ते कान्ता कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः।
कस्य त्वं वा कुत आयातः तत्त्वं चिन्तय तदिदं भ्रातः।।

हाय! यही है न जीवन!

बाद में शरीर को जला देते हैं या फिर दफना देते हैं। किन्तु इस शरीर में जो जीव रहता है वह वाक्, मन और प्राण की वृत्तियों से युक्त होकर दूसरों लोकों को जाता है। यहाँ जिन कर्मों के फलों का भोग नहीं कर सकता,

उनको उन लोकों में भोगता है। अगर पुण्यफल होता है तो स्वर्गादि में जाता है और पापफल होता है तो नरकादि में जाता है। ये पुण्य-पाप भी वाक्, मन और प्राण की वृत्तियों के अन्दर होते हैं। वहाँ के फलों का अनुभव करने के लिये वह अतिवाहिक नाम का एक विशेष शरीर प्राप्त करता है। इन पुण्य-पापों में जो कम होता है उसे पहले अनुभव करता है और जो अधिक होता है उसे बाद में भोगता है। भोगने से जब वे पुण्य-पाप समाप्त हो जाते हैं तो बचे हुये कर्मों को भोगने के लिये फिर पृथ्वी पर आता हैं।"

"क्या प्रमाण है कि ऐसे लोक होते हैं?"

"शास्त्र ही प्रमाण हैं। फिर भी हम अनुमान कर सकते हैं कि ऐसे लोक होते हैं। कैसे, देखो। यह सब जानते हैं कि स्वप्न में जब जीव स्थूल शरीर से अलग होता है तो विलक्षण स्थलों में विलक्षण अनुभवों को प्राप्त करता है। उसी के समान मरने के बाद भी शरीर त्यागकर वाक्-मन-प्राण से युक्त होने पर सुख-दुःख का अनुभव कर सकता है।"

"स्वप्न का जगत् तो कल्पनामात्र ही है न?"

"स्वप्नलोक में अनुभव किये गये सुख-दुःख तो कल्पना नहीं हैं न? यदि बुरे स्वप्न आते हैं तो कोई भी उनका परिहार करना चाहेगा। अब आगे देखो। पृथ्वी पर अगला जन्म इस प्रकार प्राप्त होता है:- जीव वर्षा द्वारा पृथ्वी पर आकर धान में प्रवेश करता है। वहाँ से अपनी वाक्, मन और प्राण की वृत्तियों के अनुसार शरीर प्राप्त करने के लिये योग्य पिता को प्राप्त करता है। उसके लिये कभी-कभी प्रतीक्षा भी करनी पड़ती है। इस बीच अगर उस धान को कोई और खा लेता है तो वह पचने के बाद मल-मूत्र के द्वारा बाहर आ जाता है। इस प्रकार घूमते हुये वह समयानुसार पिता के शरीर में प्रवेश करता है। वहाँ से माता के शरीर में। उसके गर्भ में शुक्ल-शोणित के सम्मिलन से शरीर की उत्पत्ति होनी शुरू होती है। घनीरूप प्राणवृत्ति छठे सप्ताह में खुल जाती है और सक्रिय होती है। अठारहवें सप्ताह में मनोवृत्ति खुलती है। तब से वह गर्भ में सुख-दुःख का अनुभव करता है। नौ मास का गर्भवास समाप्त करके बाहर आने पर ही वाग्वृत्ति पूरी तरह से सक्रिय होती है। मरते समय जो वृत्तियाँ बनने का क्रम था, जन्म के समय वृत्तियाँ उससे

उल्टे क्रम में सक्रिय होती हैं। प्राणवृत्ति के अनुसार पुरुष, महिला, नपुंसक, रोगी या स्वस्थ होता है। मनोवृत्ति के अनुसार पागल, मूढ़, सामान्य, मेधावी या योगी होता है। वाग्वृत्ति के अनुसार गूँगा, तोतला, बातूनी या मौनी होता है और जन्म प्राप्त करके बड़ा होता है। एक के समान दूसरा नहीं होता। क्या आश्चर्य है! हरेक की स्थिति का कारण उसका कर्म ही है। बड़े होते हुये, दुबारा कर्म करके उन पाप-पुण्यों के अनुसार वृत्ति प्राप्त करके फिर जाता है, फिर आता है। इस प्रकार जन्म-मरण होते हैं।

पुनरपि जननं पुनरपि मरनं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।
इह संसारे बहुदुस्तारे कृपयापारे पाहि मुरारे।।

अनादि काल से भटकते हुये इस चक्र से निकलने का एक ही मार्ग है: भगवान् की कृपा प्राप्त करना। यदि यह नहीं किया तो जीवन मूढ़साहस ही रहा। मैंने एक दिन देखा कि गंगातट पर बैठा एक नब्बे वर्ष का वृद्ध डुकृञ् करणे इन व्याकरण के सूत्रों को रट रहा था। मूढ़साहस का यह उदाहरण है।

सब बोलो:

भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।
सम्प्राप्ते सन्निहिते काले न हि न हि रक्षति डुकृञ् करणे।।

सबने भक्तिपूर्वक श्लोक बोला। नामस्मरण समाप्त हुआ। फिर भी कोई नहीं उठा। बहुत देर तक सभा में गौढ़ मौन छाया रहा। फिर धीरे से उठकर उन्होंने गुरु जी को नमस्कार किया और चले गये।

सभा में एक दिन गुरु जी ने हृदयंगम रीति से सबको धर्म का स्वरूप समझाकर, धर्म की रक्षा के लिये पुरी में पूर्वाम्नाय पीठ की स्थापना का प्रस्ताव रखा। हस्तामलक आचार्य का परिचय कराया। महाराजा ने शंकर के इस अभिप्राय का पूर्ण रूप से अनुमोदन किया और पीठस्थापना के लिये आदेश जारी कर दिया। सम्बन्धित अधिकारी पृथ्वीधर के साथ विचार-विमर्श करके अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त हो गये। शीघ्र ही पुरी में पीठ की स्थापना हो गयी। वहीं पृथ्वीधर को संन्यासदीक्षा देकर कुछ दिनों बाद पद्मपाद, तोटक और पृथ्वीधर के साथ शंकर जी ने द्वारका के लिये प्रस्थान किया। हस्तामलक आचार्य पुरी में ही बस गये।

• • •

अध्याय तेरह

पुरी से द्वारका

द्वारका परिचित स्थल था। वहाँ गोविन्दभगवत्पाद का शिष्यसमूह पहले से ही इस कार्य में निरत था। लगभग 12–13 वर्ष बाद शंकर के पुनर्दशन से वहाँ के लोगों में अत्यधिक उत्साह उमड़ आया। वहाँ पश्चिमाम्नाय पीठ की स्थापना बड़ी सुगमता से हुयी। पद्मपाद जी पश्चिम मण्डल के जगद्गुरु हुये। द्वारका से अपने दो शिष्यों के साथ शंकर जी का अगला पड़ाव सोमनाथ था। वहाँ भी बड़ी संख्या में लोग एकत्रित थे। शंकर जी ने वहाँ कुछ दिन रुकने का निश्चय किया। बहुत घरों से भिक्षा के लिये निमन्त्रण आये। सब घरों में जाने के लिये तो समय नहीं था, इसलिये चुनना पड़ा। शंकर ने अपने शिष्यों से कहा: "कल हम सबकी भिक्षा यज्ञेश्वर दीक्षित जी के घर में है। उनका देवल नाम का एक पौत्र है, उसकी आयु इस समय लगभग पन्द्रह वर्ष की होगी। हम जब उनके घर जायेंगे तो आप उस पर ध्यान देना।"

अगले दिन तीनों वहाँ भिक्षा के लिये गये। दीक्षित जी ने शंकर के पैर धोये। उसके बाद तोटक और पृथ्वीधर को भी बुलाया। उन दोनों ने पैर धुलवाने से मना कर दिया और स्वयं अपने पैर धोकर अन्दर गये। वहाँ तीन पत्तों को लगा देखकर वे बोले, "पहले गुरु जी का भोजन होने दीजिये, हम दोनों उसके बाद सबके साथ भोजन करेंगे", और दोनों पत्ते हटाने के लिये कहा। यज्ञेश्वर जी बोले,

"हम म्लेच्छों के शासन में पले–बड़े हैं इसलिये किसी चीज का क्रम नहीं जानते, हमें क्षमा करें।"

गुरु जी की भिक्षा हुयी। तत्पश्चात् जब सब भोजन के लिये बैठे तो पृथ्वीधर ने देवल को भी अपने पास बैठने के लिये बुलाया। परन्तु उसने यह कहकर मना कर दिया कि "आपके भोजन के बाद मैं करूँगा। मैं आपको परोसूँगा।" दूसरे भी अपनी पत्तल छोड़कर खड़े हो गये! उन दोनों के भोजन

के बाद ही तीसरी पंगत में बाकी सब का भोजन हुआ। इस प्रसंग के द्वारा पृथ्वीधर और पद्मपाद का देवल से परिचय हुआ।

भोजन के बाद सब शंकर के हितवचन सुनने के लिये बैठ गये। "गुरु जी! क्या मैं कुछ प्रश्न पूछ सकता हूँ?"

"पूछो।"

महाभारत में द्रौपदीवस्त्रापहरण का प्रसंग है। शरशय्या पर लेटे हुये जिस भीष्म ने युधिष्ठिर को धर्म का उपदेश दिया, वही भीष्म वस्त्रापहरणप्रसंग के समय चुप बैठे रहे; इसका क्या कारण है? क्या उन्होंने जो किया वह ठीक था या फिर गलत था?"

"देवल! तुमने जो कहा है केवल उस एक प्रसंग में नहीं, बल्कि और बहुत प्रसंगों में भी वे चुप रहे। वह गलत ही था, ठीक नहीं। आपका प्रश्न है कि ऐसा मनुष्य धर्म पर कैसे उपदेश दे सकता है? धर्म का ज्ञाता होने पर भी, त्यागी होने पर भी, अत्यन्त मेधावी होने पर भी, जब मौका आया तो उन्होंने धर्म का एकदेशीय निश्चय करके तदनुसार व्यवहार किया। यही उनका दोष था। फिर भी उनमें वंचना नहीं थी। विधि ने उनके द्वारा गलतियाँ करायीं। इसलिये, उनके द्वारा उपदिष्ट कर्म स्वीकार्य होने पर भी, उनके दोषों का अनुसरण नहीं करना चाहिये।'यान्यस्माकगं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतरानि' यह सुना है न?"

"दूसरा प्रश्न – भीष्म और राम जी का त्याग दोनों ही पिता के लिये थे। उनमें भीष्म का त्याग राम ही अपेक्षा अधिक तीव्र था। फिर भी, पिता की आज्ञा-पालन में राम ही आदर्श माने जाते हैं, भीष्म नहीं, क्यों?"

"भीष्म के त्याग से अधर्म को प्रोत्साहन मिला और राम के त्याग से धर्म को। भीष्म का दोष विधिवश हुआ। यदि वह दोष नहीं करते तो दुष्टों का पूर्णरूप से नाश नहीं होता। फिर भी, दोष तो दोष ही है। इसीलिये, पिता की आज्ञा-पालन में भीष्म आदर्श नहीं हो सकते।"

"और एक प्रश्न-विश्वामित्र स्वयं धनुर्विधा में निपुण थे फिर भी अपने यज्ञ में विघ्न डालने वाले राक्षसों मारीच और सुबाहु को मारने के लिये उन्होंने राम और लक्ष्मण को, जो कि बालक थे, बुलाया। इसके पीछे धर्म की क्या सूक्ष्मता है?"

"विश्वामित्र ब्राह्मण थे। वह शस्त्र नहीं उठा सकते थे। उनके यज्ञ की रक्षा करना क्षत्रिय का कर्तव्य था।"

"यदि राजा यज्ञ की रक्षा करने में असमर्थ हो तो?"

"उस अनिवार्य सन्दर्भ में ब्राह्मण भी शस्त्र उठा सकता है; सब वर्णों के लोग उठा सकते हैं।"

"यज्ञरक्षा के लिये दशरथ जी स्वयं आने को तैयार थे। फिर भी विश्वामित्र जी बालक राम-लक्ष्मण को ही क्यों ले गये?"

"विश्वामित्र जी के पास दूर-दृष्टि थी। दशरथ जी मारीच और सुबाहु को मार तो सकते थे परन्तु बात इतने तक तो सीमित नहीं रहने वाली थी। इसके आगे और तीव्र परिणाम होने वाले थे। उनका सामना करने में दशरथ समर्थ नहीं हैं यह विश्वामित्र जी जानते थे। ब्राह्मण के पास इस प्रकार की दूर-दृष्टि होनी चाहिये।"

"यदि ब्राह्मण भी हथियार उठा सकते हैं, तो क्या 'कृपा, द्रोण और अश्वत्थामा द्वारा हथियार उठाना सही था?"

"नहीं! उन्होंने अधर्म के पक्ष में युद्ध किया। ब्राह्मण केवल आत्मरक्षा के लिये या राजा के धर्मरक्षणा में असमर्थ होने पर ही हथियार उठा सकता है।"

"धर्म और अधर्म का निश्चय कैसे होता है?"

"यह जटिल प्रश्न है। इस पर लम्बी चर्चा करके निश्चय करना पड़ेगा। फिर भी संक्षेप में बताता हूँ, ध्यान से सुनो। मोक्ष ही जीवन का लक्ष्य है। अपना हो या दूसरे का हो, प्रत्यक्ष हो या परोक्ष हो, अभी हो अथवा बाद में हो, जो कर्म मोक्षमार्ग में विघ्न डालता है वह अधर्म है और जो कर्म मोक्ष में सहायक होता है वह धर्म है। इस वाक्य के बारे में आप जितना गंभीर चिन्तन करेंगे उतनी स्पष्टता से आपको धर्म का स्वरूप मालूम होता जायेगा।"

"आपने कहा कि धर्म और अधर्म का निश्चय मोक्ष की सापेक्षता से होता है। अगर कोई मोक्ष को ही सापेक्ष कहे तो?"

"मोक्ष सापेक्ष नहीं है यह समझ लो। अपने स्वरूप में स्वयं रहना ही मोक्ष है। वही है नित्य और निरतिशय आनन्द। इस आनन्द की ही सब लोग

इच्छा करते हैं; अतः, यही है जीवन का ध्येय। और अपना स्वरूप हरेक का अलग-अलग नहीं होता; सबका स्वरूप एक ही है। अतः, यह सापेक्ष नहीं है निरपेक्ष है। जो कोई भी हो, अपने स्वरूप से च्युत होने पर ही विषयानन्द प्राप्त करता है, जो कि सापेक्ष है; आगन्तुक है; इच्छा से प्राप्त किया जाने वाला है; श्रम से प्राप्त किया जाने वाला है। उसकी प्राप्ति से इच्छा और भी बलवत्तर होती जाती है और अन्त में दु:ख देती है। यह सच है कि घाव होने पर खुजली करने से सुख प्राप्त होता है। फिर भी, इस सुख के लिये कोई भी समझदार व्यक्ति यह इच्छा नहीं करेगा कि घाव हो जाये या जो घाव पहले से है वह बना रहे। इसलिये, कामेच्छा विवेकी का लक्षण नहीं है। इसके विरुद्ध आनन्द सहज है, इच्छा और श्रम से प्राप्त किया जाने वाला नहीं है। उसका दु:ख से सम्बन्ध ही नहीं है।"

"गुरु जी! मैं इन विषयों का अच्छी तरह अध्ययन करना चाहता हूँ। कैसे आगे बढ़ूँ?"

"रामायण, महाभारत और मनु आदि स्मृतियों को पढ़ो। संशय होने पर पद्मपादाचार्य और पृथ्वीधराचार्य से पूछो। पद्मपादाचार्य द्वारका में रहकर देश के पश्चिम भाग में संचार करेंगे। पृथ्वीधराचार्य यहाँ न रहने पर भी आते रहेंगे। अच्छी तरह अध्ययन करो।"

"स्मृतियों का अध्ययन करता रहा हूँ। परन्तु कुछ प्रसंगों का निर्णय करने में कष्ट महसूस होता है।"

"कुछ प्रसंगों में ऐसा होता है। इस समय भी ऐसे प्रसंग उपस्थित हैं। विशेष सन्दर्भों में विशेष समाधान भी बताने चाहिये। किन्तु समाधान बताने वाला वह होना चाहिये जिसने गंभीरता से शास्त्रों का अध्ययन किया हो। वह क्रूरता से रहित तथा धर्मकाम भी होना चाहिये। सबको प्रेम और समबुद्धि से देखने वाला होना चाहिये। देवल!, इन सब बातों को ध्यान में रखकर आगे बढ़ो। तुम्हारा कल्याण हो।"

यज्ञेश्वर दीक्षित के आनन्द की सीमा नहीं रही। उन्होंने अपने पौत्र को गले से लगा लिया। और बोले, "देवल! आज तुम्हें भगवान् का आशीर्वाद मिल गया है।" उस वृद्ध के स्मृतिपटल पर पुरानी यादें उभर आयीं और नेत्रों में जल भर आया।

• • •

अध्याय चौदह

द्वारका से बदरीनाथ

तीन दिशाओं में धर्मपीठ स्थापित हो चुके थे। अब बचा था बदरीनाथ; वहाँ जाने के लिये तोटक और पृथ्वीधर के साथ शंकर ने फिर यात्रा प्रारंभ की। उनका मार्ग मरुभूमियों, जंगलों और पर्वतों से होकर गुजरता था। जहाँ-तहाँ मन्दिरों और धर्मशालाओं को छोड़कर उनके ठहरने के स्थान थे गुफाएँ और जीर्ण हुये मण्डप। जब गाँव दूर होते थे तो पिछले गाँव में प्राप्त सूखी रोटियाँ ही उनका आहार होती थीं। ये तीसरी बार था कि शंकर दक्षिण के सेतु से हिमाचल तक भ्रमण कर रहे थे। भगवान् को यह सब किसलिये करना पड़ा? उनको इतना श्रम क्यों करना पड़ा? धर्म की रक्षा के लिये। अगर हम धर्म का पालन करते रहे होते तो उनको यह कष्ट न उठाना पड़ता। धर्म का उल्लंघन करके हमने कितना बड़ा महापाप किया है। धिक्कार है हमारी कामनाओं पर हमारे तमोगुण पर, हमारी संकुचित दृष्टि पर! हममें यह जानने का भी सामर्थ्य नहीं रहा कि यह समझ सकें कि हम धर्म का उल्लंघन कर रहे हैं।"

एक दिन तोटक शंकर जी के वस्त्रों को धोने के लिये ले जा रहे थे। कपड़ों पर खून के धब्बे देखकर वे घबरा गये। उनको साफ करके सूखने के लिये छोड़कर वे पृथ्वीधर को इसकी सूचना देने के लिये गये। दोनों ने निश्चय किया कि शंकर जी को कुछ दिन के विश्राम की आवश्यकता है। तोटक ने कुछ औषधियाँ दीं परन्तु कुछ अंतर नहीं पड़ा। गुरु जी के परीक्षण से उन्हें मालूम हुआ कि वात की वृद्धि के कारण अपान वायु का अनुलोम न होने से मल बन्द हो गया था और गुरु जी को भगन्दर हो गया था। औषधी के लिये आवश्यक घृत जंगल में तैयार करना संभव नहीं था इसीलिये गाँव जाना पड़ा। जो गाँव निकट मिला वहीं चिकित्सा के लिये रुक गये और आगे की यात्रा स्थगित कर दी गयी। औषधियाँ इकट्ठी करने में काफी समय लग गया। तब तक शंकर वेदना सहन करते हुये बिस्तर पर ही रहे। मूल औषधियाँ

आ जाने पर भी दवा बनाने के लिये आवश्यक सुविधाएँ नहीं थीं। फिर भी, गाँव वालों की सहायता से कुछ समय में दवा तैयार कर ली गयी। तोटक ने सूत के एक धागे को औषधी के रस में भिगोया और गुदाद्वार के घावों में उसे लगाकर दबाया। फिर गुरु जी को लिटाया गया। कुछ दवाएँ पिलायी गयीं। प्राय: एक महीने की चिकित्सा के बाद शंकर पूरी तरह स्वस्थ हो गये। दोनों शिष्यों ने चैन की साँस ली।

पृथ्वीधर ने कहा, "मुझे लगता है कि किसी ने अभिचार कर्म किया है जो गुरु जी पर यह रोग आया।"

"नहीं पृथ्वीधर जी! एक मूर्ख ब्राह्मण का श्राप जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण का कुछ भी न बिगाड़ सका उसी प्रकार परमेश्वर रूपी गुरु का कोई अभिचार क्रिया कुछ नहीं बिगाड़ सकती।

"तब यह प्रारब्ध है क्या?"

"भगवान् के लिये प्रारब्ध का क्या अर्थ है?"

"तब क्या कारण है?"

"इस शरीर के द्वारा किये गये अभी तक के कर्म। कर्म भी क्षेत्र का है, फल भी क्षेत्र का है।"

"कौन सा कर्म?"

"संचार। इस समय गुरु जी लगभग 31 वर्ष के हैं। आठ साल की उम्र में ही उन्होंने घर छोड़ दिया था। इसका अर्थ यह है कि वे 23 वर्षों से निरन्तर संचार कर रहे हैं। निरन्तर वाक् का श्रम कर रहे हैं। ये दोनों ही वातवृद्धि के कारण हैं। कारण कोई भी हो वे स्वस्थ तो हो गये हैं न!"

यात्रा फिर से प्रारंभ हुयी। मार्ग में तोटक एक भी दिन गुरु जी को घृत देना नहीं भूले। आखिरकार यात्रा समाप्त हुयी। तीनों बदरीनाथ पहुँचे। ब्रह्मदत्त जी के नेतृत्व में उत्तराम्नायपीठ की स्थापना हुयी। तोटकाचार्य जी वहाँ के जगद्गुरु बने। शंकर जी द्वारा केरल से भेजे गये युवा ब्राह्मण अपनी पत्नियों के साथ बदरीनाथ आकर मन्दिर का दायित्व सम्भाल चुके थे। उन्होंने आसपास के गाँवों के ब्रह्मचारियों के लिये वेदाध्ययन का कार्य भी आरंभ कर दिया था। गाँव में नूतन उत्साह का संचार हो गया था।

पिछली बार की तरह इस बार भी शंकर का निवास व्यासगुफा में ही था। एक बार अनध्याय के दिन वे वहाँ अकेले ही बैठे थे। सायंकाल का समय था। तभी एक वृद्ध महात्मा ने गुफा में प्रवेश किया। उन्होंने काषाय वस्त्र एवं रुद्राक्ष की माला पहन रखी थी। अस्त होते सूर्य के प्रकाश में उनका ताम्रकमण्डल चमक रहा था। शान्त नेत्र थे। शंकर तुरन्त उठे और साष्टाँग नमस्कार करके उन्हें आसन पर बिठाया और हाथ जोड़कर खड़े हो गये। शंकर को बैठने के लिये कहकर वह बोले, "शंकर! मैंने सुना है कि आपके प्रस्थानत्रयीभाष्य को सब विद्वानों ने बहुत पसन्द किया है। आपसे मिलने के लिये आया हूँ। मुझे पता पड़ा है कि आपने माण्डूक्य उपनिषद् पर मेरी कारिकाओं पर भी भाष्य लिखा है।"

यह बात सुनते ही शंकर समझ गये कि उनके सामने जो विद्यमान हैं वह और कोई नहीं स्वयं गौडपादाचार्य ही हैं। शंकर ने तुरन्त उनके चरण पकड़ लिये और बहुत देर तक उनको नहीं छोड़ा। उनके उठाने पर ही शंकर उठे और बोले, "भगवन्! न जाने किस जन्म का पुण्य है जो मुझे आपके दर्शन हुये। यह आपकी कारिकाओं पर लिखा गया भाष्य है। कृपया इसे स्पर्श करके मुझे दीजिये," यह कहकर ताडपत्र का ग्रन्थ उनके सामने रख दिया। उसे छूकर उन्होंने रख दिया और बोले, "शंकर' मैं अधिक समय नहीं रुक सकता। इतना बताओ, आत्मा और जगत् के लिये श्रुति ने मिट्टी और घड़े का दृष्टान्त दिया है। मैंने रज्जु और सर्प का दृष्टान्त दिया है। इन दोनों दृष्टान्तों में तुमने समन्वय कैसे किया बताओ।"

"भगवन्! व्यवहारयोग्य जो घड़ा है उसने मिट्टी को नहीं छोड़ा है किन्तु मिट्टी में घड़े का व्यवहार नहीं है। इसे संक्षेप में अगर कहना हो तो घड़े में मिट्टी है, मिट्टी में घड़ा नहीं है। उसी प्रकार दार्ष्टान्त में, जगत् में ब्रह्म है, परन्तु ब्रह्म में जगत् नहीं है। और आत्मा ही ब्रह्म है। अतः, जगत् में आत्मा है, आत्मा में जगत् नहीं है। इस वाक्य का पूर्वार्ध ही सर्वात्मभाव है। और उत्तरार्धवाक्य का जो अर्थ है उसका सुषुप्ति में साक्षात् अनुभव होता है। फिर भी जाग्रत् अवस्था में जिज्ञासु को सन्देह होता है कि, "जगत् दिख रहा है न? तो फिर जगत् नहीं है यह कहने का क्या अर्थ है?" इसके परिहार के लिये आपने रज्जु-सर्प का दृष्टान्त दिया है। उसका अन्वय इस प्रकार है:

'जगत् दिख रहा है', यह कहने पर यदि यह समझा जाये कि जगत् द्रष्टा की आत्मा से भिन्न है तो यह गलत है,' क्योंकि आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है। 'दिख रहा है न', यदि ऐसा कहा जाये तो दिखने वाला जगत् रज्जु से भिन्न देखे गये सर्प के समान मिथ्या है, इसका अर्थ यह है कि रज्जु के मिथ्याज्ञान के कारण सर्पदर्शन के समान आत्मा के मिथ्याज्ञान से जगत् दिखता है। जो दिख रहा है वह तो सत्य ही है इसलिये, भिन्न न होने पर भी भिन्न सा दिखता है, यह सम्यग्ज्ञान है। यह मिथ्याज्ञान नहीं है। कैसे? रज्जु ही सर्प के समान दिखायी देती है। सर्प के समान दिखने पर भी वह रज्जु ही है- यह सम्यग्ज्ञान है। उसी प्रकार, जगत् अपने से भिन्न के समान दिखने पर भी भिन्न नहीं है आत्मा ही है।"

"इस प्रकार कार्य-कारण सम्बन्ध को लेकर जगत् के द्वारा ब्रह्म का निश्चय करते समय मिट्टी और घड़े के दृष्टान्त का अन्वय होता है। और, 'वह ब्रह्म मैं ही हूँ' यह निश्चय करते समय अपने में किये जगत् के अध्यास को दूर करके, एकत्व समझाते समय आपने जो रज्जु-सर्प का दृष्टान्त दिया है उसका अन्वय होता है।"

यह विवरण सुनकर गौडपादाचार्य बहुत प्रसन्न हुये। अन्त में वे बोले, "शंकर! तुमने मेरा भाव बिल्कुल ठीक तरह ग्रहण किया है। अब तुम्हें जो काम करने थे उनमें जो एक काम बाकी रह गया है उसे सुनो! कश्मीर में एक प्रसिद्ध सर्वज्ञपीठ है। वह शारदा देवी के मन्दिर में है। वहाँ के अभिमानी विद्वान् पीठ पर आरोहण करने वाले के मार्ग में अपने वादों से विघ्न डालते हैं। वह कार्य आपके द्वारा किया जाना उचित है। यदि आप उस पर आरूढ़ हो जाते हैं तो आगे चलकर आपके भाष्य का विरोध करने का मूर्खसाहस कोई नहीं करेगा। तुम वहाँ जाओ। कई शताब्दियों से उस पर आरूढ़ होने का प्रयत्न किसी ने नहीं किया है। उन वादियों को पराजित करके धर्मसंस्थापन के कार्य में यशस्वी हो", यह आशीर्वाद देकर वह चले गये।

• • •

अध्याय पन्द्रह

बदरीनाथ से कश्मीर

गौडपादाचार्य के जाने के बहुत देर बाद तक शंकर उनके अन्तिम वाक्यों के विषय में सोचते रहे। बाद में गुफा से बाहर आकर पृथ्वीधर और तोटक को सारी बात बतायी। पृथ्वीधर ने गौडपाद जी के वचनों का अनुमोदन करते हुये कहा, "गुरु जी! आपके भाष्यों में निकालने योग्य एक भी दोष नहीं है, और योजनीय एक भी गुण नहीं है। फिर भी संभव है कि कालान्तर से उनकी समग्रता को ग्रहण करने में असमर्थ लोग एकदेशीय अर्थ ग्रहण करके सिद्धान्तदूषण करें। अत:, यदि आप सर्वज्ञपीठ पर आरूढ़ होते हैं तो कोई भी हो, ऐसा साहस करने से डरेगा। इसलिये आपको कश्मीर अवश्य जाना चाहिये।"

तीनों ने कश्मीर की ओर प्रस्थान किया। मन्दिर पहुँचकर माता जी के दर्शन किये। पृथ्वीधर ने सर्वज्ञपीठ के विषय में पूछा तो अध्यक्ष ने एक ओर स्थित एक बहुत बड़ा दरवाजा खोलकर दिखाया। रत्नजटित सिंहासन को देखते ही तीनों की आँखें चौंधिया गयीं। अध्यक्ष महोदय ने विस्तार से उसका इतिहास बताया।

पृथ्वीधर ने पूछा, "इस पर आरूढ़ होने के लिये कोई आये हैं। वे आगे बढ़ने के लिये क्या करें?"

"मैंने तो सोचा कि आप भी औरों की तरह केवल पीठ देखने के लिये आये हैं। आपकी बातों से मुझे हर्ष और आश्चर्य दोनों हो रहे हैं। मेरे जीवनकाल में ऐसा प्रसंग होना मेरे लिये गर्व की बात है। लेकिन इसकी व्यवस्था एकदम नहीं हो सकती। पण्डितों को सूचना देनी होगी। वे कश्मीर के अलग-अलग प्रदेशों से आयेंगे। इसके लिये कम से कम पन्द्रह दिन चाहियें। जो आरूढ़ होना चाहते हैं उनका परिचय लिखकर दीजिये। मैं सब विद्वानों को पत्र भेजता हूँ।"

पृथ्वीधर ने जो परिचयपत्र लिखकर दिया वह इस प्रकार था,

"केरल में जन्म लेकर, आठवें वर्ष में संन्यास लेकर, सोलहवें वर्ष में सकल शास्त्रों का अध्ययन करके, दस उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों और भगवद्गीता पर भाष्य रचकर शंकरभगवत्पाद आचार्य अब तीस वर्ष के हो चुके हैं। भगवान् गौडपादाचार्य की प्रेरणा से सर्वज्ञपीठ पर आरूढ़ होने के लिये वे अब श्रीनगर आये हैं। इस समय कोई भी ऐसा विद्वान् नहीं है जो उनके साथ वाद करने में समर्थ हो और हमारा विश्वास है कि आगे भी ऐसा विद्वान् पैदा नहीं होगा। फिर भी, अगर कश्मीर में ऐसा कोई हो तो वह शीघ्र यहाँ आ जाये। शंकराचार्य उनका सामना करने के लिये तैयार हैं।"

इस पत्र को पढ़कर क्षुब्ध हुये कश्मीर के विद्वान् अपने-अपने शिष्यों की सेना के साथ निश्चित समय पर शारदामन्दिर पहुँच गये। अहो! उनके वस्त्र कितने शानदार थे। उनके हीरे-जवाहरतों से जड़ित आभूषण, उनकी रंग-बिरंगी पगड़ियाँ, तिलक और उच्च-स्वर में हँसी, इन सबका क्या कहना! अपने-अपने कमरों की खिड़कियों से उनको देखकर शंकर, पृथ्वीधर और तोटक केवल धीरे से मुस्करा भर दिये।

अगले दिन बाद आरम्भ हुआ। पहले आया एक बौद्ध। उसने शंकर से पूछा, "मैं बौद्ध हूँ। अगर आप सर्वज्ञ हैं तो मेरा सिद्धान्त क्या है बताइये।"

"पहले तो यह बताओ कि क्या आप सर्वास्तित्ववादी हैं? या विज्ञानवादी हैं? या शून्यवादी हैं? यदि आप शून्यवादी हैं तो आप यहाँ आये ही नहीं हैं, मेरे साथ बात ही नहीं कर रहे हैं, यहाँ सर्वज्ञपीठ है ही नहीं, सब शून्य है। अतः, आपके साथ बात करने का कोई प्रयोजन ही नहीं है। अतः आप कौन हैं पहले यह बताइये।"

"मैं शून्यवादी नहीं हूँ। सर्वास्तित्ववादी हूँ।

"आपका सिद्धान्त पृथ्वी आदि चार परमाणुओं से उत्पन्न हुये जगत् का अस्तित्व बताता है, जिसे आप भूत कहते हैं। कारुणरूप परमाणुओं और अहंकार को आप भौतिक बताते हैं। इन दोनों के मिलने से सब अध्यात्मिक व्यवहार चलते हैं यह आपका सिद्धान्त है। यह ठीक नहीं हैं। क्योंकि परमाणु अचेतन हैं। वे शरीर नहीं बना सकते। शरीर के बिना अहंकारादि काम नहीं करते।"

"कार्य करते हैं ऐसा मैं कहता हूँ। बीज से क्रमशः अंकुर, पत्ते, तना, शाखा, पत्र, पुष्प और फल होते हैं। यह सब अचेतन ही हैं। उसी प्रकार, अविद्या, संस्कार, विज्ञान, जगत्, शरीर, ज्ञान, दुःख, इनमें एक-एक से आगे वाला पैदा होता है।"

"आपने जो कार्य और कारण का सम्बन्ध बताया है वह स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि आप क्षणभंगवादी हैं। अतः, पूर्व और उत्तर क्षणों में हेतु और फल का भाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। तब तुम्हारी प्रतिज्ञा कि जगत् हेतुओं से उत्पन्न हुआ है, निरस्त हो जाती है। आप यह भी कहते हैं कि कारण के नाश के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। आप इस विषय में दृष्टान्त देते हैं कि आम के बीज के नाश से आम का पौधा उत्पन्न होता है। आम के बीज का नाश और इमली के बीज का नाश, इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। दोनों अभाव ही हैं। ऐसी दशा में इमली के बीज के नाश से आम का पौधा भी उत्पन्न हो सकता है। क्यों उत्पन्न नहीं होता यह आप बताओ, वरना यहाँ से लौट जाओ", शंकर ने गर्जना की।

वह अपनी पगड़ी हाथ में लेकर तुरन्त वापिस लौट गया। उसके बाद जो आया उसने अपने आपको विज्ञानवादी बताया।

"आपका सिद्धान्त क्या है यह आप बताएँगे या मैं बताऊँ?" शंकर ने कहा।

सर्वास्तित्ववादी की पराजय वह देख चुका था, इसलिये उसने विनय से कहा, "मैं ही बताता हूँ, बाद में आप मुझसे प्रश्न पूछ सकते हैं। सर्वास्तित्ववाद बुद्ध का सिद्धान्त नहीं है। उन्होंने जो कहा था वह विज्ञानवाद था। विज्ञानवाद में विषय का आकार विषय के ज्ञान के अन्तर्गत होता है। अतः, विषय के ज्ञान से भिन्न एक विषय होता है यह कहने की आवश्यकता नहीं है। तो अलग-अलग ज्ञान होने का क्या कारण है? यदि ऐसा पूछा जाये तो उत्तर है कि अनादि काल से मन में सोयी हुयी विभिन्न वासनाएँ ही उसका कारण हैं।"

"आपका सिद्धान्त ठीक नहीं है। विषयज्ञान में विषय का आकार निहित होने पर भी विषय विषयज्ञान में निहित नहीं है। विषय, विषयज्ञान से

अलग बाहर होता है। कैसे देखो; आपको दिखायी देने वाला घड़ा यदि आपके घड़े के ज्ञान से भिन्न नहीं है तो आपके पास बैठे अन्धे को घड़े का ज्ञान कैसे होगा बोलो।"

"स्पर्श से होगा।"

"तब तो बाहर विद्यमान घड़े के रूपज्ञान के लिये आँखें प्रमाण हैं और घड़े के स्पर्शज्ञान के लिये त्वचा प्रमाण है, ऐसा हो जायेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि एक ही वस्तु में अनेक लक्षण होते हैं, और एक-एक लक्षण के लिये एक-एक प्रमाण चाहिये। इस प्रकार प्रमाण के द्वारा ही प्रमेय का ज्ञान होता है तो प्रमेय का ज्ञान और प्रमेय एक ही कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते।"

"स्वप्न में प्रमेय के बिना ज्ञान होता है न?"

"ऐसा नहीं। स्वप्न में प्रमेय बुद्धि के अनुसार होता है। जागृत अवस्था में बुद्धि प्रमेय के अनुसार होती है। अतः, स्वप्न के सादृश्य को स्वीकार करके जागृत् अवस्था के विषय का निराकरण नहीं कर सकते। स्वप्न में देखा हुआ मित्र जागृत् में मृत हो सकता है, स्वप्न में मृत जागृत् में जीवित हो सकता है। और एक विचारः स्वप्न में वासनाओं को देखने वाला वासनाओं से अलग ही होता है। वासनावस्तु और उसके सदृश जागृत् की पारमार्थिक वस्तु का विभाग करके जानने वाले ज्ञाता को तो नित्य ही होना पड़ेगा। आप क्षणभंगवादियों को तो नित्य ज्ञाता ही नहीं है न। यह आपके सिद्धान्त में पाये जाने वाला महान् दोष है।"

यह सुनकर विज्ञानवादी असमंजस में पड़ गया। वह सोचने लगा, "मेरे पूर्वजों ने जैसा किया वैसा न करके मैं विवेक से बौद्धधर्म को छोड़कर वैदिकधर्म में दुबारा प्रवेश करके भारत में ही रहूँ या आग्रहपूर्वक उसी को पकड़े रहकर भारत से बाहर चले जाऊँ?" उस बौद्ध को उस समय वहाँ से जाते हुए तो सबने देखा; परन्तु इसके बाद वह कहाँ गया, कोई नहीं जानता। बौद्ध विद्वानों के पराभव का समाचार शहर के आसपास के गाँवों तक में फैल गया। लोगों के समूह के समूह वहाँ उमड़ने लगे। प्राँगण पूरा भर गया। लोगों को वाद समझ आ रहा हो या नहीं, परन्तु वादियों के लौटने पर जोर-जोर से तालियाँ अवश्य बज उठती थीं!

उसके बाद आया जैन। उस मत में जीव, अजीव इत्यादि पदार्थ होते हैं। वे सब सप्त भङ्गीनय नामक न्याय का अनुसरण करते हैं। ये सात हैं– स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादव्यक्तः, स्यादस्ति च वक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति च वक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यश्च। उस पण्डित से शंकर ने पूछा, "एक ही विषय में एक ही समय 'है' (अस्ति) और 'नही है' (नास्ति) इस प्रकार दो विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते। ऐसा होने पर तो वह संशयज्ञान होगा, सम्यग्ज्ञान नहीं। उसी प्रकार 'वक्तव्यः' और 'अवक्तव्यः' भी परस्पर विरुद्ध हैं। इतना ही नहीं, आपके सिद्धान्त में जीव शरीर के परिमाण वाला है। वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तब जीव भी घट के समान अनित्य हो जायेगा।"

वह चुप हो गया। उसके बाद पाशुपत आया। उनके मत में ईश्वर जगत् का निमित्तमात्र है। प्रकृति उपादान है। प्रकृति, पुरुष और ईश्वर अलग–अलग हैं। ईश्वर केवल एक विशेष प्रकार का पुरुष है। शंकर ने इस मत में दोष दिखाया, "हीन, मध्यम और उत्तम प्राणियों की सृष्टि करने वाला होने के कारण ईश्वर राग–द्वेष से युक्त हो जायेगा। यही दोष है।"

वह बोला, "यदि कहा जाये कि इस भेद का कारण कर्म है तो?"

"तब तो कर्म और ईश्वर के बीच में प्रवर्त्य और प्रवर्तक का भाव स्वीकार करना पड़ेगा। यह अन्योन्याश्रयदोष है और आपका पुरुष तो उदासीन है। इसलिये, वह कर्म नहीं कर सकता। कर्मरहित होने पर ईश्वर उसको जन्म कैसे दे सकता है?"

फिर तार्किक की बारी आयी। वह भी ईश्वर को निमित्त और प्रकृति और ईश्वर के भेद को कहने वाले थे। पाशुपत और वैशेषिक भी इनके तर्क का ही आश्रय लेते थे। उसको सम्बोधित करके शंकर ने कहा, "आपके मत में प्रकृति को वश में करके जगत् की सृष्टिक्रिया में प्रवृत्त होने के लिये ईश्वर का शरीर होना चाहिये। परन्तु शरीर तो सृष्टि के बाद ही उत्पन्न होता है। अतः, आपका ईश्वर जगत् का निमित्त नहीं हो सकता। इतना ही नहीं; सृष्टि के पूर्व केवल उसका ही शरीर होता है, यह कल्पना यदि आप करें तो उसको भोग हो जायेगा। तब उसमें और पुरुष में कोई भेद ही नहीं रह जायेगा।"

इसके बाद बहुत से सिद्धान्ती शंकर के आक्षेपों का सामना न कर सकने के कारण लौट गये। अन्त में सांख्य सामने आया। ब्रह्म जगत् का उपादान है इस वैदिक मत के विरुद्ध उसने अपने मत का प्रतिपादन किया, "घटादि जड़ वस्तुओं का मृदादि जड़ द्रव्य कारण होते हैं। उसी प्रकार जड़ प्रधान जगत् का उपादान है।"

"चेतन अधिष्ठान के बिना प्रधान में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः, प्रधान स्वतन्त्र रूप से जगत् का कारण नहीं हो सकती।"

"पानी के बहने की प्रवृत्ति में भी कोई चेतन नहीं होता न?"

"पानी को बहने के लिये ढाल चाहिये होती है। लोग ढाल बनाकर खेतों में पानी बहा ले जाते हैं, यह आपने देखा है न?"

"अगर आप चेतन अधिष्ठान का आग्रह करते हैं तो पुरुष है ही। वह ही प्रवर्तक हो सकता है।"

"आपका पुरुष उदासीन है। अतः, वह न प्रवर्तक है, न निवर्तक है।"

"उदासीन चुम्बक लोहे की कीलों के लिये प्रवर्तक होता है न?"

"यह प्रवर्तकत्व सान्निध्य के कारण होता है। यदि इसे स्वीकार किया जाये तो प्रधान का पुरुष से सान्निध्य नित्य होने के कारण सृष्टि भी नित्य हो जायेगी। तब लय के लिये अवसर ही नहीं रहेगा।"

"आपके सिद्धान्त में भी तो ईश्वर उदासीन ही है न? उसके बारे में आप क्या कहते हैं?"

"बोलता हूँ, सुनो! श्रुतिप्रमाणसिद्ध ईश्वर अपने स्वरूप के आश्रय से उदासीन है और माया के आश्रय से प्रवर्तक है।"

"ईश्वर के साथ आप माया को भी कह रहे हो! तब तो आप हमारी तरह द्वैती ही हो गये न?"

"माया ईश्वर से भिन्न नहीं है; वह उसकी शक्ति ही है।"

प्रधानमल्ल सांख्य की हार के साथ ही वाद समाप्त हुआ। एकत्रित जनसमूह ने उच्च स्वर में शंकर और शारदा देवी का जयकार किया। अध्यक्ष महोदय आकर सावधानी से शंकर को सर्वज्ञपीठ के निकट ले गये।

परन्तु यह क्या, सर्वज्ञपीठ की पहली सीढ़ी पर शंकर अपना दायाँ पैर रखने ही वाले थे कि तभी अन्तिम सीढ़ी पर एक देवी दिख पड़ी जो हाथ उठाये शंकर को रोक रही थी। देवी ने ऊँची आवाज में कहा, "रुको, रुको। आप ऊपर नहीं आ सकते। मैं इस पीठ की अधिष्ठात्री देवी हूँ। यहाँ पर बैठने वाले का केवल वरिष्ठ विद्वान् ही होना पर्याप्त नहीं है, उसे परिशुद्ध भी होना चाहिये। आप परिशुद्ध नहीं हैं। संन्यासी होने पर भी परकायाप्रवेश करके आपने स्त्रीसंग किया। यहाँ आपके लिये कोई जगह नहीं है।"

"माँ, स्त्रीसंग गृहस्थ ने किया था या संन्यासी ने?"

"संग जिसने किया वह गृहस्थ होने पर भी उसके अन्दर तो संन्यासी ही था न?"

"लिंग, वर्ण और आश्रम स्थूलशरीर के ही होते हैं, सूक्ष्मशरीर के नहीं। एक ही सूक्ष्मशरीर कर्म के अनुसार विभिन्न शरीर प्राप्त करता है ऐसा शास्त्र कहता है।"

"कर्म के अनुसार संस्कार होते हैं। वे रहते हैं बुद्धि में। संन्यास के संस्कार से युक्त बुद्धि का गृहस्थ के शरीर में प्रवेश करना गलत नहीं है क्या?"

"माँ, एक बर्तन में पड़े शुद्ध जल को अगर दूसरे अशुद्ध पात्र में डाल दिया जाये तो शुद्ध जल अशुद्ध हो जाता है। मैंने किसी भी संस्कार से रहित प्रेत में प्रवेश किया था यह ध्यान रखिए। अत: मैं भ्रष्ट नहीं हूँ। और फिर सूक्ष्मशरीर का स्थूलशरीर के साथ सम्बन्ध ही नहीं होता। अत:, जनक के साथ वाद करते समय उसके शरीर में प्रवेश करने पर भी सुलभा भ्रष्ट नहीं हुयी। गुरुपत्नी की इन्द्र से रक्षा करने के लिये गुरुपत्नी के शरीर में प्रवेश करने वाला उत्तङ्क भ्रष्ट नहीं हुआ। इतना ही नहीं। सृष्टिकार्य करने के लिये ईश्वर जीवात्मा में प्रवेश करने पर भी भ्रष्ट नहीं होता। तो मैं प्रेत में प्रवेश करने पर भ्रष्ट कैसे हो सकता हूँ?"

"स्त्रीसंग का संस्कार बुद्धि में होता है। उस बुद्धि के साथ इस संन्यासीशरीर में लौट आये हो, इसलिये सांकर्य हुआ है।"

"माँ, यदि वह संस्कार रहा होता तो मैं वहीं रह गया होता, वापिस नहीं

आता। मेरे लौटने के बाद अगर उभय भारती देवी अपने द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर देने के लिये आग्रह करतीं, और यदि मैं उत्तर दे देता तो शायद मुझे उस विषय पर बात करने का दोष लगता। वह महान् थीं, दूरदृष्टि से युक्त थीं। उत्तर के लिये उन्होंने अनुरोध नहीं किया, मैंने भी स्वयं कुछ नहीं कहा। और फिर माँ, अगर मुझमें वह संस्कार होता तो मुझे आपके दर्शन ही नहीं होते।"

इस वार्तालाप के बाद देवी ने हँसकर कहा, "वत्स शंकर!, तुम निर्दोष हो और धर्म के उद्धार के लिये अवतीर्ण हुये हो, यह दोनों बातें मुझसे छुपी नहीं हैं। हर प्रकार से प्रयत्न करके मण्डन को जीतना धर्म की संस्थापना के लिये आवश्यक था। तुम्हारे सर्वज्ञत्व को प्रकाशित करने के लिये उभय भारती को कामविषयक प्रश्न पूछने की और तुम्हें परकाया में प्रवेश करने की, इन दोनों की प्रेरणा विधि ने ही दी थी। लोग यह बात जान जाये, इसीलिये मैंने तुमसे यह वाद किया। तुम यह वाद जीत गये हो। चढ़ो और पीठ पर बैठो।"

शंकर एक-एक करके सीढ़ी चढ़े और सर्वज्ञपीठ पर बैठ गये। तालियों की गड़गड़ाहट, घण्टों, ढोल, नगाड़ो, शँखों और उपस्थित जनसमूह की जयकारों ने गगनभेदी नाद उत्पन्न किया। शंकराचार्य के सिर के ऊपर शारदा देवी का वरदहस्त था।

"अहो! अहो! अहो! ऐसा अद्भुत दृश्य किसी ने कभी नहीं देखा। हम कितने भाग्यशाली हैं," लोग इस प्रकार बातें कर रहे थे। शंकर के सिर से हाथ हटाते ही तुरन्त शारदा देवी अन्तर्धान हो गयीं। शंकर जी भी एक क्षण और वहाँ नहीं रुके; तुरन्त सीढ़ियाँ उतरकर पृथ्वीधर और तोटक के साथ नगर की पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान कर गये।

• • •

अध्याय सोलह

कश्मीर से कैलाश

मार्ग में एक गाँव पड़ा। वहाँ लगभग सौ घर थे। रहने के लिये भगवान् का मन्दिर भी था। पास ही शुद्ध जल का झरना बह रहा था। रहने की और भिक्षा की, दोनों की सुविधा थी। तीनों वहीं रुक गये। दो-तीन दिन विश्राम किया। एक रात जब पुजारी सायंकाल की पूजा समाप्त करके, रात भर जलाये रखने के लिये दो बड़े दीपों में तेल डालकर चले गये, तब शंकराचार्य ने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा, "बैठो, आपके साथ कुछ विषयों पर बात करनी है। सावधानी से सुनो। मोक्ष की साधना के लिये समाज में शांति और संयम बनाए रखना आवश्यक है, यह मैं कई बार कह चुका हूँ। किन्तु इस समय शांति भंग हो रही है। एक तो बौद्धों के कारण और दूसरे म्लेच्छों के आक्रमण के कारण। पहले बौद्धों के बारे में सुनो। 12-13 शताब्दी पहले बुद्ध ने कुछ कहा। वह क्या था यह सही-सही जानने का कोई मार्ग नहीं है। जो उनके शिष्य कह रहे हैं वही हमें बुद्ध का कहा हुआ मानना पड़ेगा। उनके शिष्य अलग-अलग रूप से उसका प्रतिपादन कर रहे हैं। एक-एक को लेकर दिखाया गया कि वह गलत है। लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि बुद्ध वेद और वर्णाश्रम धर्म के विरोधी थे। इस दोष के कारण उनके अनुयायी समाजद्रोही हुए। उन्होंने निरन्तर आक्रमणकारियों की सहायता की। भगवान् की कृपा से पुष्यमित्र आदि राजाओं ने उनका पूर्ण रूप से दमन कर दिया है। फिर भी, सुगत की शांति और अहिंसा से भरी रंगीली बातों से मुग्ध अपने को पण्डित मानने वाले और कुछ सामान्य जन अभी भी बाकी हैं। उनको वापिस लाने का काम अभी शेष है। परन्तु मुझे डर है कि आगे भी सुगत से स्फूर्ति पाकर कुछ लोग इस प्रकार के विभिन्न भ्रमों को फैलायेंगे। सांख्यादि के समान वैदिकपरिधि में ही रहकर यह काम किया जाये तो उतनी हानि नहीं है और समाजद्रोही भी उत्पन्न नहीं होते। जैनों के समान वैदिक सम्प्रदाय का विरोध न करके अपनी कल्पनाएँ करना भी चिन्ता का विषय नहीं है। अगर वैदिकपरिधि का उल्लंघन किया जाता है तो बहुत हानि होती है।"

पृथ्वीधर बीच में बोले, "सुगत के अनुयायियों को सुधारने में एक रुकावट है।"

"क्या रुकावट है?"

"आत्मस्वरूप में जगत् नहीं है, यह जो श्रुति में कहा गया है इसमें और शून्यवादियों और विज्ञानवादियों के बीच में महान् अन्तर है, यह तो सच है; परन्तु फिर भी, इस अन्तर को ग्रहण करने में असमर्थ सामान्यजन सोचते हैं कि सुगत का सिद्धान्त श्रुति के विरुद्ध नहीं है और उसी का अनुवर्तन करने लगते हैं। इसका निवारण करने के लिये क्या लोगों के सामने सगुण परमात्मा की ही उपासना को ही नहीं रखना चाहिये?"

"वह कारगर नहीं होगा, क्यों देखो। जब उनको पता पड़ेगा कि श्रुति निर्गुण परमात्मा को भी कहती है तो सगुण और निर्गुण को विरुद्धवचन समझकर लोगों का श्रुति पर से विश्वास उठ जायेगा। तब वे सुगत के और निकट हो जायेंगे। अतः वह करना ठीक नहीं है। हमें समग्र वेद को ही लोगों के सामने रखना है और अपने-अपने अधिकारानुसार वे चयन कर लें ऐसा कहना चाहिये। पुराण-इतिहास यही करते हैं।"

"और एक प्रश्न है- बौद्धों ने संघों को स्थापित किया। इससे बहुत शीघ्र ही बौद्धमत का प्रचार हो गया। अपना कार्य सिद्ध करने के लिये क्या हम लोग भी बौद्धों की तरह संघ की स्थापना करें?"

"संघ बनाने से समाज संघटित नहीं हो जाता। इतना ही होता है कि समूहों में एक और समूह जुड़ जाता है। बौद्धों के भी इस समय तीन-चार संघ हो गये हैं न! जैनों में भी हो गये हैं न! मनुष्यों द्वारा स्थापित संघों का कालान्तर में नाश होना निश्चित है। 'यज्जातं तन्मर्त्यम' - जो पैदा होता है वह अवश्य मरता है। जो अपना योगक्षेम वहन करने में भी असमर्थ है वह समाज के योगक्षेम की क्या व्यवस्था करेगा! समग्र समाज के योगक्षेम के लिये भगवान् ने ही एक अमर्त्यव्यवस्था रची है। वह है वर्णाश्रमव्यवस्था। अनादिकाल से वैदिक परम्परा का जीवित रहना ही इस बात में प्रमाण है कि यह व्यवस्था भगवान् की ही है।"

"परन्तु इस समय तो वर्णाश्रमव्यवस्था क्षीण हो रही हैं न?"

क्षीण हो सकती है, परन्तु मर नहीं सकती। अपने अनुष्ठान से, स्वाध्याय से और प्रवचन से उसके क्षय को रोकना ही ब्राह्मण का धर्म और तप है। समाज मार्गदर्शन के लिये ब्राह्मण की ओर ही देखता है। इसलिये सबसे पहले ब्राह्मण की रक्षा होनी चाहिये। उसमें त्याग, विद्या, कष्टसहिष्णुता, दूरदृष्टि, धैर्य, और समग्र समाज के प्रति मैत्रीभाव होना चाहिये। ऐसे ब्राह्मणों को तैयार करना ही आपका ध्येय होना चाहिये।"

"तुरन्त हमें क्या करना चाहिये? कैसे आगे बढ़ें?"

"तुरन्त तुम्हें धर्मपरिवर्तन का सामना करना है। सबसे पहले तुम्हें यह समझना चाहिये कि क्या कारण है कि जो चाहे आकर वैदिकों का धर्मपरिवर्तन कर लेता है। समाज का अधिकांश भाग मुग्ध होता है। कुटिल बुद्धि वालों की वंचना भरी बातों से वे आसानी से शिकार बन जाते हैं। वेदनिन्दकों की संख्या में वृद्धि होने का यही कारण है। बौद्धों की वंचना का एक दृष्टान्त देखें, एक दीवार के सामने मुग्धों को बिठाकर उनको कहते हैं कि वे कोई भी प्रश्न पूछ सकते हैं जिसका उत्तर बुद्ध देंगे। उनके द्वारा कोई भी प्रश्न पूछने पर दीवार के पीछे बैठा कोई उत्तर देता है। उनमें विश्वास पैदा करके धर्म-परिवर्तन करने के लिये इतना ही पर्याप्त है। और केरल में क्रिस्तानों द्वारा की गयी वंचना को तो आप जानते ही हो। लेकिन चाहे मुग्ध ही क्यों न हो, सात्त्विक ब्राह्मण के सम्पर्क में रहने से इस वंचना का शिकार नहीं बनता। अतः, ब्राह्मण कदापि मुग्ध जनों को अपने से दूर न रखें। और जो अमुग्ध हैं वे बौद्धधर्म का शिकार कैसे बने? वैदिक अनुष्ठान के प्रति आलस्य या अपेक्षा के कारण। प्रलोभन भी एक कारण हो सकता है। कुछ बुद्धिमान भी शिकार बन गये हैं, उसका क्या कारण है? उन्होंने वैदिक सिद्धान्त को ठीक-ठीक नहीं समझा है। उनको तत्त्व ठीक तरह समझाना ही इसका समाधान है। अमुग्धों में कर्मासक्ति बढ़ानी चाहिये। मुग्धों के साथ प्रेममय सम्पर्क रखना ही पर्याप्त है।"

"मुसलमानों द्वारा किये गये धर्मपरिवर्तन में वंचना नहीं क्रूरता है। उसका सामना कैसे किया जाये?"

"इस समस्या के दो भाग हैं। पहला है क्रूरता को थामना। यह कार्य

प्रधानतया से सीधे तौर पर राजा का है। इसमें प्रजा का पात्र गौण और परोक्ष है। साक्षात् रूप से तो वे कुछ भी नहीं कर सकते। इस में राजा को कर्तव्य के विषय में मार्गदर्शन करना ब्राह्मण का कर्तव्य है। इसका दृष्टान्त है कौटिल्य। अगर क्रूरता का सामना करने में राजा समर्थ नहीं है तो समर्थ ब्राह्मण हथियार उठाकर आगे बढ़ सकता है। इसका दृष्टान्त है पुष्यमित्र। हमने सुना है जब वे एकच्छत्राधिपति बने तो योगशास्त्र के प्रणेता पतञ्जलि ने उनसे अश्वमेध यज्ञ करवाया। परन्तु याद रखना चाहिये कि ब्राह्मण द्वारा शस्त्र उठाना आपद्धर्म है।"

"इस समस्या का दूसरा भाग क्या है?"

"जो क्रूरता से परिवर्तित किये गये हैं उन्हें वापिस लाना। क्रूर म्लेच्छराजा भी हमेशा नहीं बने रहेगा। अतः, योग्य समय की परीक्षा करके, उसके भय से धर्मपरिवर्तन करने वालों को वापिस ले आना चाहिए। उनकी वापिस आने की इच्छा होने पर भी शास्त्र में श्रद्धा रखने वाले दूसरे लोग इसमें विघ्न डालते हैं। यह एक जटिल समस्या है। अतः इसका समाधान बताने वाले प्रकाण्ड पण्डित और परम सात्त्विक होने चाहिये, तथा इतने तेजस्वी होने चाहिए कि उनका उल्लंघन करने में लोग भय का अनुभव करें। वे पतितों को उचित प्रायश्चित करवाकर उन्हें समाज में फिर से स्थान दिलाएं। किसका क्या अनाचार है, और कितना प्रायश्चित है? पतितावस्था में कितनी पीढ़ियों तक पुनः परिवर्तन हो सकता है? जिनका पुनःपरिवर्तन होना है वे म्लेच्छों से उत्पन्न हुये हैं या दूसरे पतितों से? यह सब विचार करके फिर पुनः परिवर्तन का काम करना चाहिये। तीक्ष्ण से तीक्ष्ण लौकिक बुद्धि भी इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकती।"

"केरल के क्रिस्तानों के समान जिनको वंचना से परिवर्तित किया गया है, उनके विषय में क्या-क्या बातें ध्यान रखनी आवश्यक हैं?"

"ऊपर जो कुछ कहा गया है वह इन पर भी लागू होता है। उनको उनके अधिकारानुसार थोड़ा-थोड़ा शास्त्र भी बताना चाहिये। दोष का स्वभाव, परिमाण, किन सन्दर्भों में दोष उत्पन्न हुआ, इन सब को दृष्टि में रखकर ही शास्त्र दोष की चर्चा करता है। उन्हें समझाना चाहिये कि वंचना के कारण

किया गया दोष अत्यन्त अल्प होता है। इससे हम पतित हैं, यह भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। पृथ्वीधर! इस सन्दर्भ में सौराष्ट्र के देवल को मन में रखो। उस दिन उसके साथ जो चर्चा हुयी थी वह याद है न? उसके विकास की ओर ध्यान देना। उससे आगे चलकर बहुत महान् कार्य होने हैं।"

एक और दिन तोटक सो चुके थे। पृथ्वीधर के साथ बात करते हुये शंकराचार्य ने कहा, "पृथ्वीधर! तुम्हारे ऊपर बहुत बड़ी जिम्मेवारी है। परमपूज्य गोविन्दभगवत्पाद के शिष्य और शिष्यों के शिष्य जो संन्यासी हैं, इस समय देश भर में पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। उनका भरपूर प्रयोग करके सब संन्यासियों को एक सूत्र में बाँधकर उनका मार्गदर्शन करना चाहिये। इस समय चारों दिशाओं में स्थापित आम्नायपीठों के जगद्‌गुरु अपनी-अपनी परिधि में काम कर रहे हैं। चूंकि हमारा देश बहुत बड़ा है इसलिये ये चारों समय-समय पर आपस में मिलकर विचार-विमर्श नहीं कर सकते। अतः, इस कार्य के लिये कुम्भ के मेलों का लाभ उठाना चाहिये। अपने-अपने संस्कारसामर्थ्य के अनुसार संन्यासियों को जंगलों, पर्वतप्रदेशों, नदीतटों, समुद्रतटों, गाँवों और नगरों में संचार करते हुये समग्र राष्ट्र में वैदिक परम्परा की स्थापना करनी चाहिये। अलग-अलग जन-समूह का अलग-अलग अधिकार होता है। अतः उनको समझाने के विषय भी अलग-अलग होते हैं; समझाने के ढंग भी अलग-अलग ही होते हैं। इसलिये, योग्यतानुसार संन्यासियों की अलग-अलग स्थानों पर रहने के लिये व्यवस्था हो सके इसका प्रयत्न करना चाहिये। कुम्भमेले में संन्यासियों के इकट्ठे होने पर पूर्वमीमांसा, शारीरकमीमांसा, पुराण-इतिहास-स्मृतियों, और तत्कालीन धर्म की स्थिति पर भी चर्चा होनी चाहिये। परिस्थिति सदा एक सी नहीं रहती। सन्दर्भ यदि बदल भी जायें तो भी यह वैदिक आधार जिस प्रकार नहीं बदलना चाहिये उसी प्रकार सन्दर्भानुसार इन मेलों में लोगों का मार्गदर्शन निरन्तर होते रहना चाहिये। मैंने जो कहा है तुम समझ गये न? कुछ पूछना है तो पूछो।"

"भगवन्! मुझे तो चारों ओर अन्धकार ही दिखता है। हमारा यह कार्य सफल होगा क्या?"

"पृथ्वीधर, ध्यान रखो। कार्य करने के लिये उद्यत व्यक्ति को ही यदि

आत्मविश्वास नहीं होगा तो वह कार्य क्या करेगा? उत्साह रखो। हमारी सहायता करने के लिये कोई भी नहीं है यह चिन्ता न करो। 'क्रियासिद्धि सत्त्वे भवति महता नोपकरणे' – यहाँ सत्त्व का अर्थ है उत्साह। उत्साह हो तो और किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं होती। तुम्हारा उत्साह देखकर दूसरे भी उत्साहित हो जायेंगे। और फिर फल की आकांक्षा से जो कार्य करता है वह कृपण होता है। फल कर्ता के अधीन नहीं होता, वह तो परमेश्वर के अधीन होता है। क्योंकि फल देश–काल–निमित्त की अपेक्षा रखता है। देश–काल–निमित्त कर्त्ता के अधीन नहीं होते ईश्वर के अधीन होते हैं। अतः उत्साह के साथ कार्य करना ही हमारा ध्येय होना चाहिये। अगर फल की इच्छा करते हैं तो उसके भोग के लिये एक और जन्म लेना पड़ता है। अतः, जो पुनर्जन्म नहीं चाहता वह फल की इच्छा नहीं करता। किया गया तप कभी व्यर्थ नहीं जाता। उसका फल हमारे जीवित रहने की अवधि में न मिलने पर भी तप का फल तो होता ही है। देर से होने दो। धर्म का नाश नहीं होता। एक बार उत्कर्ष, एक बार अपकर्ष होता है, लेकिन युग–युगान्तरों से यह धर्म जीवित ही है न! जहाँ तक हमें पता है ग्रीक, हूण, कुशान और अरबों के द्वारा क्रूर आक्रमण होने पर भी धर्म बचा हुआ है। अतः, हम धर्म की रक्षा करते हैं यह अहंकार ठीक नहीं है। आगे भी यह जीवित ही रहेगा। किन्तु स्वाध्याय और प्रवचन का निरन्तर आचरण करना ही हमारा तप है। इस तप का विशेष अवसर प्राप्त हुआ है; धर्म के संकट में पड़ने के समय हमारा जन्म हुआ है, इस प्रकार अपना सौभाग्य मानकर इस दैवी कार्य के आधाररूप से तुम्हें स्थापित करूँ यह मेरी हार्दिक इच्छा है।"

"भगवन्! आपका अनुग्रह और मार्गदर्शन सदैव मुझ पर बना रहे। आपके द्वारा दिये दायित्व को मैं निभाऊँगा।"

"तुम पर मेरा पूरा आशीर्वाद है। इसके बाद समय–समय पर भगवान् का मार्गदर्शन, रहेगा। उनमें श्रद्धा रखकर, अपने कर्मों को उनको समर्पित करते हुये आगे बढ़ो, यशस्वी हो। अब देर हो गयी है, जाओ सो जाओ"। पृथ्वीधर ने नमस्कार किया। भगवान् शंकर ने अपने दाहिने हाथ को बहुत देर तक उसके सिर पर रखे रखा।

पृथ्वीधर जी उस रात देर से सोये थे फिर भी अगले दिन ब्रह्ममुहूर्त से भी पहले उठ गये। उनके उठने की आवाज़ से तोटक भी उठ गये। जब वे शौच समाप्त करके झरने में स्नान कर लौट रहे थे तब भी सूर्योदय में बहुत समय बाकी था। मार्ग में पृथ्वीधर ने कहा, "तोटक जी! मुझे बहुत डर लग रहा है।"

"क्या कह रहे हो आचार्य! आप को डर लग रहा है? किसलिये डर लग रहा है?"

"ऐसा लग रहा है कि गुरु जी के सान्निध्य का भाग्य हमें अब बहुत कम समय के लिये मिलने वाला है।"

"भगवन्! आप क्या कह रहे हैं? स्पष्ट बताइये न!"

"कल रात उन्होंने मुझसे जिस ढंग से बात की उससे मैं घबरा गया हूँ। आज उठने से पहले मैंने एक सपना देखा। गुरु जी दूर पर्वत पर चढ़ते हुये जा रहे थे। आप और मैं उनका पीछा करते हुये दौड़ रहे थे। अगले ही क्षण वे दिखायी नहीं दिये। उस भय से ही मैं उठ गया था।"

"इसीलिये आप चिल्लाये थे और मैं भी उठ गया था।"

"अब इसके बाद हम एक क्षण के लिये भी उन्हें नहीं छोड़ेंगे। गुरु जी के उठने का समय हो गया है। आओ, चलें।"

दोनों ने तेज–तेज चलते हुये गुरु जी के कक्ष में प्रवेश किया। वहाँ गुरु जी नहीं थे। दोनों के हृदय काँप उठे। वे झरने की ओर भागे। "गुरु जी, गुरु जी," चिल्लाते हुये उन्होंने कई बार आवाज़ लगायी। सब जगह ढूंढा। कहीं भी नहीं मिले। मन्दिर के पुजारी के घर जाकर उन्हें उठाया। उसने औरों को जगाया। सारा गाँव उठ गया। गुरु जी कहीं नहीं मिले। पृथ्वीधर और तोटक की स्थिति तो पागलों जैसी हो गयी। गाँव तक दो ही मार्ग आते थे। एक कश्मीर से आता था और दूसरा उसकी उल्टी तरफ से। दोनों उल्टी दिशा की ओर दौड़े। पर्वतप्रदेश था। वे कितनी दूर तक दौड़ सकते थे? फिर चलने लगे। मार्ग में, "क्या आपने किसी बत्तीस वर्षीय संन्यासी को देखा है?" ऐसा सबसे पूछते रहे। किसी ने भी नहीं देखा था। तत्पश्चात् मार्ग बहुत हिस्सों में बट गया। किस मार्ग को पकड़ें यह समझ नहीं आ रहा था। वे कोई

भी मार्ग लिये जा रहे थे। इस प्रकार चलते हुये कई दिन बीत गये। अन्त में गर्म पानी का एक कुण्ड आया। पृथ्वीधर जी बोले, "तोटक जी! यह तो गौरीकुण्ड है। अब हमें क्या करना चाहिये? किस ओर जायें? आप ही बताओ।"

"आचार्य, दृढ़ मन से हम केदार की दिशा में जायें। वहाँ भी अगर गुरु जी के दर्शन नहीं हुये तो मैं जीवित नहीं रहूँगा। वहीं किसी शिखा से गिरकर देह त्याग दूँगा।"

"तोटक जी ऐसा मत बोलिये। याद रखिये कि गुरु जी ने आप को बहुत बड़ी जिम्मेवारी सौंपी है।"

तोटक जी बिलख-बिलख कर रोने लगे। अपने आप को सँभालकर थोड़ी देर में दोनों ने फिर केदारनाथ की दिशा में चलना आरंभ किया। मार्ग में एक व्यक्ति गाय चरा रहा था। उससे पूछा, "यहाँ से किसी संन्यासी को जाते हुये देखा है क्या?"

"कल रात को एक संन्यासी हमारे गाँव में सोये थे, सुबह उठकर चले गये।"

"वह कैसे थे बोलो।"

"लगभग बत्तीस वर्ष के होंगे। कैसे थे क्या बताऊँ, बिल्कुल एक देवता की तरह थे।"

"हाथ में दण्ड और कमण्डलु था क्या?"

"अरे! तब तो वे कोई और थे, उनके पास तो कुछ भी नहीं था।"

"वे लम्बे थे अथवा छोटे कदवाले थे?"

"बहुत लम्बे तो नहीं परन्तु लम्बे तो थे।"

"वे गोरे थे या श्यामवर्ण?"

"शिव के समान गौरवर्ण थे।"

"तोटक जी, तुरन्त चलो। इसके वर्णन से तो गुरु जी ही लगते हैं। अगर उनका दर्शन होता है तो यह हमारा भाग्य होगा।"

"लेकिन उसने तो कहा है कि उनके पास दण्ड-कमण्डलु नहीं थे?"

"कहीं विसर्जित कर दिये होंगे। अपना कार्य समाप्त होने पर परमेश्वर को दण्ड और कमण्डलु की क्या आवश्यकता है। तोटक जी–आओ चलें।"

वे केदारेश्वर के मन्दिर की ओर चले। सायंकाल का समय हो चुका था। आखिरकार बहुत दूर कोई पर्वत पर चढ़कर जाता हुआ नजर आया। दोनों और भी तेज चलने लगे। काफी तीव्र चढ़ाई थी। देखते ही देखते, अस्त होते सूर्य की किरणें उस व्यक्ति पर पड़ीं। स्पष्ट हुआ कि वह गुरु जी ही थे। जोर–जोर से पुकारने पर भी उन्हें सुनायी नहीं दिया, वे इतनी दूर थे। दोनों आवेश में आकर दौड़ने लगे। गुरु जी और उनके बीच में अन्तर कम हुआ। "गुरु जी! भगवन्! स्वामी!" चिल्लाते हुये उन्होंने पुकारा। शायद गुरु जी ने सुना नहीं। एकाएक गुरु जी ने अपना मार्ग बदला और एक दूसरी शिखर पर चढ़ने लगे। दोनों भी साँस भरकर ऊपर की ओर भागे। दूरी और भी कम हुयी। 'भगवन्! भगवन्! भगवन्!, उन्होंने आवाज लगायी। शंकर शिखर के छोर तक पहुँच गये। अस्त होते सूर्य का प्रकाश उनपर गिरा। उन्होंने घूमकर देखा। दोनों को गुरु का स्पष्ट दर्शन हुआ। वे और आगे एक भी कदम न रख सके और "भगवन्! भगवन्! कहते हुये वहीं गिर गये। गिरते समय जो उनके हाथ पैर पसरे वही उनका नमस्कार हुआ। फिर हिम्मत करके दोनों उठे। भगवान् ने अपना दाहिना हाथ ऊपर उठाया और हथेली को आगे–पीछे करते हुये आशीर्वाद दिया। इतने में सूर्यास्त हो गया। पर्वतप्रदेश होने के कारण पश्चिम के एक शिखर ने सूर्य को पूरी तरह ढँक दिया। कुछ ही क्षणों में अन्धकार छा गया। कोटि–कोटि बिजलियाँ एक साथ शंकर जी के चारों ओर प्रकाशित हो उठीं। उस चकाचौंध से उन दोनों की आँखें बन्द हो गयीं। बड़े प्रयत्न से उन्होंने आँखें खोलकर देखा तो केवल प्रकाश ही प्रकाश था, शंकर का शरीर नहीं था। वह प्रकाश कभी नहीं बुझा आज भी वैसा ही है। गुरु जी का शरीर शिखर के दूसरी ओर जाकर कहीं और चला गया या देवता उसे अपने लोक ले गये, यह कोई नहीं जानता। उस दिन रक्ताक्षि संवत्सर के ज्येष्ठ मास शुक्ल पक्ष की द्वादशी तिथि थी।

• • •

अध्याय सतरह

शंकराचार्य का सन्देश

शंकराचार्य के अन्तिम दर्शन के बाद जो कुम्भमेला हुआ उसमें पिछले संवत्सरों की अपेक्षा जो अत्यधिक संन्यासियों ने भाग लिया, उसका श्रेय पृथ्वीधर को है। पद्मपादाचार्य, हस्तामलकाचार्य और तोटकाचार्य ने भी भाग लिया। वृद्धावस्था के कारण सुरेश्वराचार्य नहीं आ सके। शंकराचार्य का सन्देश संन्यासियों तक पहुँचाने के विषय में इन चारों के बीच विस्तृत चर्चा हुयी। अन्त में यह दायित्व पृथ्वीधर को सौंपा गया। अगले दिन संन्यासियों की सभा थी। सभा का उद्देश्य पहले ही सूचित कर दिया गया था, इसलिये संन्यासियों में काफी उत्साह और कौतूहल था। कार्यक्रम का आरंभ आनन्दवल्ली के पाठ से हुआ, जिसका प्रारंभ 'ब्रह्मविदाप्नोति परं तदेषाभ्युक्ता .....' से होता है। एक कण्ठ से इसका पाठ करने से सबको अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव हुआ। फिर पृथ्वीधराचार्य उठकर बोले:

"सर्वप्रथम मैं हम सबके हृदयसम्राट् सर्वज्ञ परमेश्वर शंकरभगवत्पाद का स्मरण करके नमस्कार करता हूँ। मंचासीन, उनके द्वारा ही नियुक्त जगद्गुरुओं–परमपूज्य पद्मपाद, हस्तामलक और तोटक को नमस्कार करता हूँ। वृद्धावस्था के कारण जो यहाँ न आ सके उन परमपूजनीय सुरेश्वर को नमस्कार करता हूँ। ब्रह्मविदों में श्रेष्ठ आप सबको भी मेरा नमस्कार। आप सबको शंकरभगवत्पाद के अन्तिम दिनों के विषय में सुनने की हार्दिक इच्छा हैं, मैं जानता हूँ। अतः, उसको पहले कहना मेरा कर्तव्य है", इतना कहकर उन्होंने विस्तार से सारा वृत्तान्त कह सुनाया। बोलते समय बार–बार उनका कण्ठ गद्गद् हो उठता था। कथन के आदि से लेकर अन्त तक वक्ता और श्रोताओं की आँखों से आसुँओं की धारा बहती रही। मन को नियन्त्रित करके पृथ्वीधर ने फिर बोलना शुरू किया:

"अब उनका सन्देश सुनाना है। बदरीनाथगुहा में उनको दर्शन देने वाले त्रिकालज्ञानी व्यासजी के कथनानुसार अभी लगभग चार देववर्षों तक

भारतभूमि में घोर परिस्थिति रहेगी। तीव्रता से धर्म की ग्लानि होगी। इसका मूलकारण है बुद्ध। साक्षात् उनके द्वारा कहा गया सिद्धान्त क्या है इसका निर्णय करने के लिये कोई आधार नहीं है। यह भी स्पष्ट नहीं है कि उन्होंने अपने ही समय में बौद्धधर्म की स्थापना की भी थी या नहीं। उनके सिद्धान्तों को कहने वाले उनके अनुयायियों के ही अनेक गुट हैं। उन सबने ही अपने–अपने ग्रन्थों की रचना की है। उन सबका खण्डन भाष्यकार ने किया है यह आप जानते ही हैं; किन्तु इतना तो निश्चित है कि इस राष्ट्र के श्वास वेद और वर्णाश्रमधर्म को उन्होंने धिक्कारा। शस्त्रास्त्रों के उत्पादन और माँस के विक्रय को बन्द करने का उन्होंने उपदेश दिया।[1] वेदविरुद्ध अपने धर्म का प्रचार करने के लिये संघ की स्थापना की और धीरे–धीरे बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघ शरणं गच्छामि इस घोषणा के द्वारा बुद्ध, संघ और उनका धर्म, अनुयायियों के लिये शरण्य हुआ। बुद्ध ने नियम किया कि अनुयायी राजा संघ के लिये सहयोग दें।[2] इससे बौद्धराजाओं को जबरदस्ती बौद्धधर्म प्रजाओं पर थोपने का अवसर मिल गया। पशुबलि रोक दी गयी।[3] बाघ और सिंह जैसे दुष्ट पशुओं का वध करना भी बन्द हो गया। फलस्वरूप अपार संख्या में धेनु आदि पशु नष्ट हो गये।[4] शिकार पर रोक लगा दी गयी।[5] 'सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता हो, श्रमणों और ब्राह्मणों को समभाव से देखना चाहिये'[6], बौद्धों के शिलालेख ऐसा कहते अवश्य हैं, परन्तु साथ ही साथ आक्रमण करने वाले शत्रुओं की सहायता करते हुये वैदिकधर्म को नष्ट करने का प्रयत्न भी करते रहे। युवक–युवतियाँ बौद्धविहारों में मिलकर भ्रष्ट जीवन जीते हुये बौद्धधर्म के प्रचारक बने और अपने माता–पिता के असह्य दुःख का कारण बने। चाणक्य ने उनको नियन्त्रित करने के लिये कुछ नियम बनाये, जैसे पुत्री अपने माता–पिता की आज्ञा के बिना भिक्षुणी नहीं बन सकती, पत्नी और बच्चों के जीवन की व्यवस्था बिना करे कोई पुरुष भिक्षु नहीं बन सकता इत्यादि।[7] परन्तु अशोक ने इन सब नियमों को धूलि में मिलाकर भिक्षु–भिक्षुणियों को सरकार की ओर से सब भोगों की सुविधा दिलवायी।[8] इन सबके परिणामस्वरूप बौद्ध निर्लज्ज होकर अपने राष्ट्रद्रोह के कार्य में लगे रहे।"

"बौद्धों का यह पतन धीरे–धीरे नहीं हुआ। वे शुरु से ही राष्ट्रद्रोही रहे

हैं। हजार वर्ष पहले भी जब सिकंदर ने भारत पर आक्रमण किया था तो उन्होंने उसका स्वागत किया।[9] एक शहर के लोगों ने ब्राह्मणों के नेतृत्व में विद्रोह किया और उसका सामना किया। हर तरह से प्रयत्न करने पर भी जब वह उनके विद्रोह को दबा न सका तो उसने सैन्यबल से दुर्ग पर कब्जा करके निहत्थे ब्राह्मणों का नरसंहार किया। लगभग 80,000 लोगों को उसने मार डाला। और बहुत से लोगों को बन्दी बनाकर गुलाम के रूप में बेच डाला।[10] ग्रीकों के बाद देश पर आक्रमण करने वाले कुशानों की भी बौद्धों ने सहायता की।[11] आज से 90 वर्ष पहले सिन्धु देश पर आक्रमण करने वाले मुसलमानों की जो उन्होंने सहायता की थी वह तो अत्यन्त घोर द्रोह था। उनके द्रोह के कारण मुसलमान राजा दाहिर को मारकर उसकी दो पुत्रियों और सहस्त्रों और स्त्रियों को उठा कर ले गये। शहरों में आग लगा दी गयी। क्रूरता से जबरदस्ती हमारे लोगों को अपने धर्म में परिवर्तित किया। अन्त में उन्होंने अपनी सहायता करने वाले बौद्धों को भी मार डाला।[12] इतना सबकुछ हो जाने पर भी बौद्धों की बुद्धि नहीं जागी। मुसलमानों की तरह बौद्धधर्म भी व्यक्तिनिष्ठ ही है यह याद रखो।"

"दूसरों के द्वारा किये गये धर्मपरिवर्तन भी बताता हूँ, सुनो। भगवान् शंकर ने जहाँ जन्म लिया उस केरलदेश में पश्चिम से आये हुये क्रिस्तान् नाम के लोग हैं। वहाँ आकर बसे हुये उन्हें लगभग सात शताब्दियाँ हो चुकी हैं। वे हमारे भोले-भाले लोगों को धोखे से अपने धर्म में परिवर्तित करके उनसे आज भी धन इकट्ठा कर रहे हैं।[13] क्रिस्तानों का धर्म भी व्यक्तिनिष्ठ ही है।"

"इसका क्या अर्थ है? किसी व्यक्तिनिष्ठ अवैदिक धर्म में परिवर्तित सब लोग वैदिक धर्म और इस देश के प्रति द्रोह करने के स्तर तक पहुँच जाते हैं। यह द्रोहरूप व्याधि देश की सीमाओं से शुरू होती है। यह सच है कि पुष्यमित्र आदि राजाओं ने प्रायः इस समस्या का राजनीतिक समाधान करके बौद्धधर्म का प्रचार लगभग समाप्त कर दिया है। यह देखकर अगर हम चुप बैठ जाते हैं तो यह बहुत बड़ी भूल होगी। क्योंकि, जब तक लोगों को वैदिक धर्म के विषय में थोड़ा सा भी ज्ञान नहीं होगा तब तक यह

बीमारी नष्ट नहीं होगी; हिंसा से या धोखे से शत्रु उनको आसानी से छीन ले जायेंगे। अत:, इस समस्या का कोई सामाजिक समाधान निकालना चाहिये।"

"भगवान् शंकर ने बताया है कि स्वाध्याय और प्रवचन ही इसका समाधान है। सर्वदा सर्वत्र संचार करके सब लोगों के साथ सुहृदभाव से मिलके धर्म को समझाना और धर्माचरण करवाना हमारा कर्तव्य है। गृहस्थ विद्वान् भी यह कार्य कर सकते हैं। किन्तु उनमें और हम संन्यासियों में बहुत अन्तर है। गृहस्थ इसके लिये अपना सम्पूर्ण समय नहीं दे सकते; समग्र समाज की स्थिति को समझने का उन्हें अवसर नहीं मिलता क्योंकि वे ज्यादा घूम नहीं सकते। पूर्णतया त्याग और अभय उनके लिये साध्य नहीं है। हमें ये अननुकूलता नहीं होती। हम पूरे दिन यह कार्य कर सकते हैं। गाँव-गाँव घूमने से हमारा सब लोगों से सम्पर्क रहता है। चूंकि हम सारे व्यामोह त्याग चुके हैं, इसलिये भय हमारे समीप भी नहीं आ सकता। यह कहते हुये सिंकदर के सामने जो एक प्रसंग हुआ था वह मेरे स्मरण में आ रहा है। बोलता हूँ, सुनिए।"

"सिकन्दर ने तक्षशिला में रहने वाले एक कौपीनमात्रधारी दण्डिसंन्यासी वृद्ध ज्ञानी के बारे में सुना था। अपने दूत के द्वारा उस संन्यासी के लिये सोने के साथ उसने यह सन्देश भेजा, 'सिकन्दर सूर्यपुत्र है। सम्पूर्ण विश्व को उसने जीत लिया है। उसने आपके लिये यह सोने के आभूषण भेजे हैं। इसके बाद आप सुख से रह सकते हैं, भीख माँगने की आवश्यकता नहीं है। इनको स्वीकार करके उसके दरबार में उससे मिलने आओ। यदि यह स्वीकार नहीं करते हो तुम्हारा सिर काट दिया जायेगा।" यह सन्देश सुनकर वह दण्डिसंन्यासी हँस पड़ा और दूत से बोला,

"भाई!, अब मैं जो कहता हूँ वह जाकर अपने राजा को सुनाओ। उससे कहो कि वह अकेला ही सूर्यपुत्र नहीं है, मैं भी सूर्यपुत्र ही हूँ। सभी मानव सूर्यपुत्र ही हैं। तुमने कहा न कि वह विश्वविजेता है? उसने तो अभी तक व्यास नदी भी पार नहीं की है। उसके बाद का देश बड़ा दुर्गम है। उसके भी बाद आता है मगधदेश। उस अतिदुर्गम प्रदेश को पार करके, मगध को भी जीतकर, यदि वह जीवित बच जाता है तो वह विश्वविजेता कहा जा

सकता है। जहाँ तक उसके द्वारा भेजे गये सोने की बात है, उस पर मैं थूकता हूँ। उससे मेरा कोई मतलब नहीं है। इस मातृभूमि ने मुझे सबकुछ दिया है। तुमने मुझे सिर कटने का भय दिखाया है न? सिर कटना क्या होता है, नीचे गिरा हुआ सिर जिस मिट्टी से आया था उसी में मिल जाता है। आत्मा नहीं मरती। वह आत्मा मैं सनातन हूँ जो काटा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता। यह भय उत्पन्न करने वाले वचन स्वर्ण में मोह रखने वाले में भय उत्पन्न कर सकते हैं मुझमें नहीं। मुझमें स्वर्ण का मोह भी नहीं है, मृत्यु का भय भी नहीं है। उसके दरबार में नहीं जाऊँगा। चलो, यहाँ से बाहर जाओ।" मात्र एक कौपीनधारी द्वारा वह इस प्रकार तुच्छरूप से तिरस्कृत होगा ऐसा सिकन्दर ने सपने में भी नहीं सोचा था।"[14]

"अतः परिस्थिति के सुधार के लिये हमें क्या करना चाहिये, इस विषय में जो शंकर जी ने कहा है वह बताना अभी बाकी है। यह भारतीय वैदिक समाज अव्यक्त भगवान् का व्यक्त रूप है। यही है वेदपुरुष। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों ही वैदिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं; इसका अर्थ यह है कि यह चारों ही भगवान् के अंग हैं। इसको भंग करने के इच्छुक जो म्लेच्छ या हमारे अपने ही लोग हैं, उनके प्रयत्नों को विफल करना ही भगवान् के प्रति हमारी सेवा है। यह हमारा कर्तव्य है। यह समाज संन्यासियों का अन्न, वस्त्र, आश्रय आदि देकर पोषण करता है। अतः हम समाज के ऋणी हैं। अगर शान्ति का समय हो तो हम उनको वेदान्त सुनाकर इस ऋण से मुक्त हो सकते हैं। अशान्ति के समय इसका अवसर नहीं मिलता। इस समय हम अशान्त वातावरण में जी रहे हैं। इस समय हमें धर्म की रक्षा करनी है। जब देश के ऊपर शत्रुराजा अपनी सेना के साथ आक्रमण करते हैं तब हम राजाओं का मार्गदर्शन करके परोक्ष रीति से समाज के ऋण से मुक्त हो सकते हैं। इसके सिवा हम और कुछ भी नहीं कर सकते। लेकिन धर्माचरण के लिये लोगों में उत्साह पैदा करने का कार्य जब कभी भी किया जा सकता है; इस समय तो यही करना है। ऐसा करते समय समग्र समाज हमारी दृष्टि में होना चाहिये, कोई भी छूटना नहीं चाहिये। समाज में भिन्न-भिन्न संस्कार वाले लोग होते हैं। विष्णुभक्त, शिवभक्त इत्यादि। उनमें से किसी की भी श्रद्धा घटानी नहीं चाहिये, बल्कि बढ़ानी चाहिये। किन्तु उनमें जिस

प्रकार परस्पर असहिष्णुता न पनपे उस प्रकार विष्णु, शिव आदि सब एक ही परमात्मा के विविध रूप हैं, इसके समर्थन में यह वेदवाक्य कहकर, 'सब्रह्म सशिवस्सहरिस्सेन्द्रस्सोऽक्षरः परमस्वराट्', उन्हें सर्वदा समझाना चाहिये कि इसमें प्रमाण वेद ही है। इसीलिये, शंकर जी ने देश के विभिन्न भागों में प्रधान रूप से पूजित विष्णु, सूर्य, शक्ति, शिव, गणपति और कुमार की उनके-उनके सम्प्रदायानुसार पूजा करते रहने के लिये कहा और 'षण्मतस्थापनाचार्य' के रूप में प्रसिद्ध हुये। ये सब एक ही परमात्मा हैं, लोगों को यह बोद्ध कराने के लिये पंचायतन पूजाक्रम की पद्धति को व्यवहारपथ पर स्थापित किया। शंकराचार्य जी का यह सन्देश भारत के प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचना चाहिये।"

"अब इसके बाद इस सन्देश को पहुँचाने में जो ध्यान देने योग्य बातें हैं, उनको कहता हूँ। लोगों के अलग-अलग संस्कार होते हैं। ये संस्कार पिछले जन्मों के कर्म और प्रस्तुत जन्म के परिवेश पर आधारित होते हैं। इसलिये यद्यपि जो सन्देश पहुँचाना है वह एक ही होने पर भी, समझाने का क्रम संस्कारानुसार अलग-अलग होता है। भगवान् शंकर की उपदेशशैली हमने देखी है। वे ब्राह्मण विद्वानों के साथ गहन शास्त्रचर्चा करते थे। मुग्धों को वही विचार पुराणों और इतिहासों द्वारा समझाते थे। हमें भी इसी क्रम का अनुसरण करना चाहिये। श्रोताओं की तरह वक्ताओं के भी संस्कार और सामर्थ्य अलग-अलग होते हैं। अतः हमें अपने-अपने संस्कारों के अनुसार जंगलों में, पहाड़ों में, नदीकिनारों में, समुद्रतटों पर, गाँवों में और शहरों में घूम-घूमकर लोगों को धर्म का बोध कराना चाहिये और पूरे देश में वैदिक परम्परा को दृढ रूप से स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसलिये अबसे ऋग्वेदगोवर्धनपीठ जगन्नाथपुरी के परमपूज्य हस्तामलकाचार्य की शिष्यपरम्परा में संन्यासियों का उपनाम वन और अरण्य होगा। यजुर्वेदशारदापीठ शृंगेरी के सुरेश्वराचार्य की शिष्यपरम्परा में सरस्वती, भारती और पुरी, ये उपनाम होंगे। सामवेदकालिकापीठ द्वारका के पद्मपादाचार्य की शिष्यपरम्परा में तीर्थ और आश्रम ये उपनाम होंगे। अथर्ववेदज्योतिपीठ बदरीनाथ के तोटकाचार्य की शिष्यपरम्परा में गिरि, पर्वत, और सागर ये उपनाम होंगे। हम सबको भी, जैसाकि पहले ही कहा गया है, भारत के

विभिन्न प्रदेशों को आपस में बाँटकर यह ईश्वरीय कार्य करना चाहिये। सदैव घूमते रहना और प्रवचन करना हमारा स्वभाव बन जाना चाहिये। हम सबकी इच्छा है आत्मज्ञान की प्राप्ति। इसके लिये इससे बड़ा कोई तप नहीं है। और आप में से जिनको आत्मज्ञान हो चुका है उनको भी यह कार्य करते रहना चाहिये, इसके लिये हमारे सामने शंकर जी का आदर्श है। इस प्रकार हम सबके लिये भगवान् शंकर ही आदर्श हैं। उनके दिखाये मार्ग पर ही हम लोग जिएँ। वे जैसे निरन्तर बिना विश्राम के घूमते रहे वैसे ही हम भी संचार करते रहें। हमें जो कार्य करना है उसके लिये शंकर जी का मार्गदर्शन भी है और अनुग्रह भी। फिर हमें क्या चिन्ता! सत्यमेव जयते!", यह कहकर उन्होंने अपना भाषण समाप्त किया।

तत्पश्चात् उपस्थित संन्यासियों ने एककण्ठ से इस शान्तिमत्र का जप किया, "आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् अस्मिन् राष्ट्रे राजन्य इषव्यः शूरो महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानवड्वा नाशुस्सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठास्सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलिन्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्"।

सभा समाप्त हुयी, कार्य शुरू हुआ। सभा बिखरी, समाज संघटित हुआ। वह खण्ड-खण्ड होकर बिखर जायेगा ऐसा सोचने वालों को निराशा हाथ लगी। परन्तु इस फल के लिये शंकर से 12 शताब्दी पूर्व और 12 शताब्दी बाद के अगणित सज्जनों का अथक श्रम और असीम त्याग आवश्यक हुआ। आखिरकार दासता से मुक्ति मिली। अब समाज के सर्वांग अभ्युदय के लिये केवल एक ही चीज बाकी है; इस समयय समाज के सभी क्षेत्रों में जो अविवेकी लोग अग्रणीय स्थानों पर कब्जा किये बैठे हैं उनको पीछे करके विवेकियों को आगे लाना। यह कार्य धीरे-धीरे होगा। लेकिन होगा अवश्य। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

• • •

1. संघरक्षित: Survey of Buddhism
2. दीघनिकाय 17, महासुदस्ससुत्तान्त
3. First Rock Edict : Romilla Thapar: Ashoka and the Decline of the Mauryas, London (1960) – p. 150

4. K.A. Nilakantha Sastry : The age of Nandas and Mauryas – p. 239
5. Vincent Smith : Early History of India – p. 117, 185
6. Pillar Edict of Ashoka
7. Mukherji : Chandragupta and his time (1957) – p. 296
8. H.G.Wells : New and Revised Outline of History (1931) – p. 404
9. W.W.Tam : Greeks in Bactria – p. 175; Nehru : Discovery of India – p. 43; Vincent Smith : Early History of India – p. 299
10. W.W.Tam : Alexander the Great, Vol.II (1950) – p. 53
11. Majumdar, Roy Choudhary, Kali Kumaradatta : Advanced History of India (1950) – p.122
12. Majumdar : Arab Invasion of India – p. 26; AlBiladuri : Ellict History of India Vol. I p. 122; Chachanama : Ellict History of India Vol. I p. 161
13. R.G.Pothan : Syriyan Christians of Kerala (1963) – p. 22, 32-33; J.H.Lord: The Jews in India and the Far East (1907) – p.62-63; Francis day : The Land of the Perumals (1863) – p.234; K.A.Nilakantha Sastry : History of South India (1958) – p.429
14. M'Crindle : Megasthenes – p.124-126